अपनों की खोज में

या

बुकसेलर की डायरी

लेखक

रामप्रसाद विद्यार्थी-रावी.

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद

मूल्य १)

Published by
K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd.,
Benares Branch.

इतनी बात और

'बुकसेलर की डायरी' या 'अपनो की खोज' में मुझे जो लिखना था वह सब भीतर के पृष्ठो मे है। यहाँ इतना और कहना है कि इसे लिखने का अधिकार मैंने पूरी ईमानदारी से, बुकसेलर बनकर ही कमाया है। समाज के हृदय और व्यवहार में जिस चीज की मुझे खोज थी उसे अपनी बुकसेलर की फेरियों में मैंने उत्सुक आँखों से देखा है—कहीं कुछ पास से, कहीं जरा दूर से। इस दर्शन को मुझे आगे किसी बड़े काम में लाना है।

नये युग के निर्माण में—वह वर्तमान सङ्कट और सङ्घर्ष के दौर के बाद सेवा और स्वाभाविक साम्य का युग दीख पडता है—समान और असमान के भेद-भाव को छोड़कर मनुष्य-मनुष्य के सम्बन्धो का अध्ययन और उनकी अधिक सहृदय स्थापना एक बडे महत्त्व की बात होगी, ऐसा प्रतीत होता है। इसी अध्ययन और स्थापना की भावना आज मानव-जगत् के कई कोनो से उठ रही है। इस डायरी जैसी चीज़ के पन्नों में भी यही भावना यदि प्रेरक हुई हो तो आश्चर्य नहीं।

इस डायरी में जिन कुछ-एक पूर्व-परिचितो और अधिकाश अपरिचितो की चर्चा आई है—उस चर्चा में उनकी सहृदयता का रुख दीख रहा हो या ऊपरी रूखेपन का—उन सबका मैं ऋणी हूँ और उनमें से हरेक के पुन: परिचय का मेरे निकट एक ऊँचा मूल्य है।

यह डायरी सन् '४१ के कुछ महीनो की है और सन् '४२ में 'विशाल भारत' के ५-६ अङ्कों में इसका पूर्वार्द्ध कुछ सक्षिप्त रूप में प्रकाशित हो चुका

है। इस डायरी में यदि कोई पुस्तक-व्यवसायी सज्जन 'बुकसेलरी' का कौशल ढूँढ़ना चाहेंगे तो उन्हें निराश होना पड़ेगा; हाँ, जीवन की अधिक व्यापक 'सेलरी' (Salesmanship) का कुछ आभास इसमें मिल सकेगा।

मेरे एक मित्र के अनुसन्धान से आगरा कालेज के प्रोफ़ेसर के० बी० भटनागर की डायरी में लिखा हुआ एक पत्रा पाया गया। भूमिका की जगह उसे ही, मूल भाषा में, अगले पृष्ठ पर दिया जा रहा है। इसके लिए मेरी अपेक्षा मेरे कुछ साहित्य-पारखी मित्र ही प्रोफ़ेसर भटनागर के अधिक कृतज्ञ हैं। अँगरेज़ी न जाननेवाले पाठक समझ लें कि वह कोई ऐसी आवश्यक चीज़ नहीं है, इसीलिए हिन्दी में नहीं दी जा रही है।

कैलाश—सिकंदरा (आगरा)
७ अगस्त, '४७

राही.
(लेखक)

FROM A PROFESSOR'S DIARY

June 6, '42.

" ·And then that young bookseller and his diary He seems to have slipped into the role of a bookseller to see men and things rather than make money Making money is a secondary consideration The primary object in view is to watch the play of thoughts and feelings in the minds and bosoms of men and women of various classes and types. Does such an attitude not soften the edge of the drudgery that invariably attends a bookseller's job? Yes, the bookseller is not only a businessman, but a genial, indulgent, playful and occasionally mischievious spectator of the fun and frolic, the follies and foibles of his fellow beings Like Chaucer he would watch the customers and laugh within his sleeves at their oddities or unconscious lapses into the ridiculous or conscious flights into the sublime. Yet there is no grain of malice or even suppressed anger; why should it be? The bookseller won't judge life · he is content to witness its colourful drama

"The diary is a gallery of portraits, some thumb-nail sketches, others elaborated and properly finished, but all vivid, precise and real These pen-pictures cover a very wide range: this word painter's brush has a large sweep. If on one occasion it draws the features of a university professor, next moment we find it laying colour on the solemn forehead of an Indian prince or on the graceful brows of a blushing maiden or the repulsive countenance of a stingy

grocer, or the shrewd looks of a publisher. Indeed the variety is great. One feels quoting what Dryden said of Chaucer's portraits, 'Ah, here is God's plenty.'

"The dirrist possesses a rich vein of humour, now witty, now playful, now innocently mischievous, now solemnly critical, but never dry or *satirical*. These *manifold* flashes of puck-like humour, both revealing and penetrating, coupled with an easy, fluent, unaffected prose style have thrilled me most. I wonder if I shall ever Know more of this budding writer who seems to be gifted with such powers of thrilling people."

K. B. BHATNAGAR, M.A.,
LECTURER IN ENGLISH,
Agra College

आपका ही

अगर आपको भी सचमुच
किसी मित्र प्रियजन की तलाश है

मसूरी, १२-६-१९४१

फाउंटेनपेन चोरी चला गया है इसलिए यह डायरी पेंसिल से ही शुरू की जा रही है। भगवान् कृपा करें, यह पेंसिल का लिखा फीका न पड़े।

१६ मई से किताबें लेकर दरवाज़े-दरवाज़े बेचनेवाला बुकसेलर बना हूँ। इसके पहले जो कुछ था, उससे दो कदम आगे, दो हाथ ऊपर उठा हूँ। पहले जो कुछ था, वह बता दिया करूँ, तो ताज्जुब नहीं कि कोई-कोई चाय पर मुझे निमन्त्रित करने को भी तैयार हो जायँ; पर अब जो कुछ बना हूँ, उसमें मैंने कोई अगला कदम उठाया है, यह मानने-समझने के लिए कोई बिरला ही तैयार होगा। वैसे समझना कुछ कठिन नहीं। जो था, सो तो हूँ ही; जो हूँ, वह उसमें और जोड़ है।

१६ मई को आगरे से चला था। १७ को देहरादून पहुँचा और वहाँ से २३ को मसूरी। २८ को मसूरी से फिर देहरादून आया और २९ को देहरादून से हरद्वार। ३० को वहाँ से चलकर ३१ को वापस आगरा। साथ में लीला थी। लीला कौन? कौन क्या, यह एक साधारण, बिलकुल आसानी से समझ में आ सकनेवाला एक लड़की का-सा नाम है। मसूरी की यह छोटी-सी यात्रा बुकसेलरी की फेरी भी थी और उतनी ही एक तफरीही सैर भी। आगरे के कुछ प्रकाशकों से पुस्तकें लेकर एक बक्स भर लिया था। मसूरी के दो साठ दिन वाले वापसी टिकट ले लिए थे—एक अपने लिए और दूसरा लीला के लिए।

दो टिकटों में कम-से-कम तीन टिकटों भर के वज़न का सामान ले जाना था। रेलवे की यह चोरी शायद मेरे लिए पहली ही थी, इसलिए मन में कचाई और खटका था। देहरादून मे कुली की कृपा से—उसे सिर्फ एक रुपया देने पर—आख़िर बेड़ा पार हो गया।

१८ को डी० ए० वी० कालेज देहरादून के प्रोफेसर महेन्द्रप्रताप शास्त्री से मिला। कहता तो कह देता—'हरिशङ्करजी शर्मा मुझ पर बड़ा स्नेह रखते हैं। आपके विद्यागुरु प्रोफेसर पी० एम० भम्मानी से मेरा परिचय हो गया है और उनका भी मुझ पर बहुत आदरपूर्ण स्नेह है। वे आ नहीं सके, नहीं तो मेरे साथ ही सपरिवार आते और मैं भी उनके साथ आपका स्नेहपात्र मेहमान होता।' लेकिन मैं तो एक बुकसेलर था, ऐसी बातें क्यों कहता? 'आप कहाँ से आये हैं?'—आर्यसमाज-मन्दिर के आँगन में खड़े-खड़े उन्होने पूछा। 'आगरे से; मै एक बुकसेलर हूँ।' मैंने मानो सबसे गरम कौर सबसे पहले निगला। बुकसेलर होना भी कितनी ओछी, कितनी लज्जाजनक बात है, यह मैंने आज ही अनुभव किया। मैंने उस समय अनुभव किया; लेकिन यह बुकसेलरी जो मुझे श्रमजीवी, सहिष्णु और स्वावलम्बी होना सिखाती है, जो मेरे अध्ययन की सजीव पुस्तको—मनुष्यो—को सामने ला खड़ा करती है, श्रेष्ठ है बहुतेरी एडीटरियों और प्रोफेसरियों से, जिनमें इनके लिए अवकाश की कमी है।

मेरे न मानने से क्या होता है? बुकसेलर, मोटे तौर पर, कोई आदर की चीज़ नहीं है। 'आप कल दस बजे मुझसे कालेज मे मिलिए।'—प्रोफेसर साहब ने कहा। मैंने उनसे कह दिया था कि श्री हरिशङ्करजी मुझको जानते हैं, उनसे मैंने कई बार आपका नाम सुना है और मैं देहरादून में अपने काम के सिलसिले मे आपसे कुछ जानकारी पाना चाहता हूँ। प्रोफेसर साहब मुझसे २४ घण्टे बाद बात करेंगे, क्योंकि मैं एक अदना-सा बिज़िनेसमैन हूँ। २४ घण्टे में मेरा कुछ हर्ज, यानी उनके द्वारा हो सकनेवाले लाभ में रुकावट, भी हो सकती

है, यह वे उस समय नहीं सोच सके। अगर मैं कोई लेखक या कवि होता—निठल्ली और भावुक मात्र श्रेणी का ही सही—तो शायद प्रोफ़ेसर साहब मुझे उसी समय पूछ लेते और मेरी कुछ ख़ातिर भी हो जाती। प्रोफ़ेसर साहब व्यस्त रहनेवाले आदमी हैं, सहृदय भी हैं, मिलनसार भी हैं, यह मैंने उनके मुख पर पढ़ा है। लेकिन एक सज्जन पुरुष किस-किसके लिए क्या क्या करे? यह तो अधिक समाईवाले का ही काम है।

अधिक समाईवाले विरले ही होते हैं जिन्हें चोटी दर्जे के राज-काज सम्हालते हुए भी अपने, और अपने मित्रों के, नौकरों और अपरिचित राहगीरों के नाम रटने, उनसे गप लड़ाने और उनसे मित्रता निभाने के लिए ढेरो फ़ुर्सत मिल जाती है। ऐसे लोग मेरे एक स्वल्प परिचित मित्र के शब्दों में 'मनुष्यों के खरीदार' हुआ करते हैं। और ऐसे लोगों से प्रोफ़ेसर साहब का मुकाबला (Contrast) करते हुए, वास्तव मे बात यह है कि मुझे इनमे उन लोगो की अनुरूपता (Similarity) का भी कुछ-कुछ आभास मिलता है।

यह प्रोफ़ेसर साहब की आलोचना नहीं, उनका सौभाग्य है कि एक बुकसेलर की डायरी में पहले-पहल आने की वजह से उन्हें इतनी पंक्तियाँ मिल गईं। और अगर यह आलोचना है, तो अपने लिए। मैं उन जैसा प्रोफ़ेसर होता और वह बुकसेलर, तो मुझे क्या न करना चाहिए था और क्या करना।

लाला तोताराम। 'सेठजी, आपको हिन्दी किताबें देखने का भी कुछ शौक़ है?'—मैंने अपने हमउम्र पहले ग्राहक की आटा-दाल-चावल की दूकान पर आवाज़ दी। अब मै समझता हूँ कि स्पीकरों को जरूर अपनी स्पीचों के बहुत-से वाक्य कण्ठस्थ होते होंगे, तभी उनके व्याख्यान उनके लिए सुगम हो पाते होंगे। 'सेठजी, आपको हिन्दी-किताबें देखने का कुछ शौक़ है?'—यह अब मेरा पेटेंट, भाषण का प्रथम वाक्य है। ऐसे ही कुछ सैकड़े वाक्यों के सहारे मैं एक

अच्छा वक्ता बनने की आशा कर सकता हूँ। खैर, उधर तोता-रामजी ने इनकार कर दिया और मैं आगे बढ़ चला। 'कैसी किताबें हैं आपके पास ?'— उन्होंने पीछे से पुकारकर पूछा। मैं लौटा, बातें हुईं, किताबें देखने का वादा हुआ और अन्त में उन्होंने एक दिन दो पुस्तकें खरीद लीं। तब मैंने अनुभव कर लिया कि मैं पुस्तकें बेच सकता हूँ और एक सफल बिज़िनेसमैन हूँ। तोतारामजी तब से मेरे मित्र हैं।

लाला... का नाम एक बार पूछा तो था, पर भूल गया। इस-लिए नहीं कि उन्होंने कोई किताब नहीं खरीदी, बल्कि इस भूल का दोष मेरी पुरानी लापरवाही की आदत को है। चावल वग़ैरह के व्यापारी यह नवयुवक इन्टर तक पढ़े-लिखे, हमदर्द-स्वभाव और पैसे को सम्हालकर रखना जाननेवाले हैं। जिस दिन से उन्होंने किताब खरीदने में अपनी असमर्थता या नापसन्दगी प्रकट की है, उस दिन से मैंने उन्हे अपना मित्र बना लिया है।

मिस्टर गिरधारीलाल सलूजा। किताबों व अख़बारों की दूकान करते हैं। मिलनसार और ख़ातिरदार हैं। दावत दी और काम में भी मदद देने की कोशिश की।

मिस्टर सी० ओमप्रकाश सत्संगी। कपड़ों की दूकान है, मिलनसार हैं। एक किताब भी ख़रीदी, शायद कुछ लिहाज़ मे आकर।

मिस विद्यावती सेठ, प्रिंसिपल कन्या-गुरुकुल और सेक्रेटरी श्री महात्मा ख़ुशीराम लाइब्रेरी। वयोवृद्धा हैं। व्यवहार में कुछ रूखापन भी आ जाता है, शायद बेचनेवालों के साथ। 'लाइब्रेरियन से कहो, आपकी किताबें देख ले।'—उन्होंने अन्त में स्वीकार किया। 'एक चिट लाइब्रेरियन के नाम मुझे दे दीजिए।'—मैंने कहा और इसके लिए वे राज़ी नहीं हुईं। चलते समय मैंने लीला के लिए उनसे एक ग्लास पानी माँगा, फिर अपने लिए भी। तब मैंने देखा, उनमें स्निग्ध वात्सल्य भाव था, कुछ आदरपूर्ण भी। पानी पीकर हम लोग चल दिये। उन्हें क्या पता कि हम कौन थे और पानी के साथ उन्हें

हमें कुछ खिलाना भी चाहिए था। वह प्रिंसिपल थीं तो लीला
तो एक प्रिंसिपल-परिवार की ही लड़की थी।

श्री गुरुदयाल, उपर्युक्त लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन। मिलनसार अ
साहित्यिक हैं, जैसा कि एक अच्छे लाइब्रेरियन को होना चाहिए
खोदकर देखो, तो कौन मिलनसार नहीं निकलता? थोड़ी-सी किता
खरीदीं।

प्रिंसिपल, महादेवी कन्या-पाठशाला इन्टर कालेज। नाम? न
पूछा। भद्र महिला है। इम्तहान के दिन थे, काम की अधिकता थ
किताबें नहीं देख सकीं। बातचीत में मैंने पूछा—'प्रिंसिपल आप
हैं?' उनका कमरा आम आफिस का-सा था, उसके बाहर कोई ने
बोर्ड भी नहीं था। एक बुकसेलर को वह इस बात का उत्तर क
देतीं? 'क्यों?'—उन्होंने उत्तर में पूछा। 'मैं इसलिए पूछ रहा
कि आप अपनी लाइब्रेरियन को कह दें, उन्हें फुर्सत हो, तो किता
देख सकती हैं।' उन्होंने बताया कि वे ही प्रिंसिपल हैं और पुस्त
देखने का लाइब्रेरियन को भी अवकाश नहीं है।

लिखने को अभी बहुत पड़ा है; लेकिन दस बज गये हैं, फेरी
जाना है, हाथ भी थक गया है—फिर लिखूँगा।

१४-६-'४१

अभी पिछले ही ट्रिप की बात बाकी है।

२३ को सबेरे देहरादून से चलकर दोपहर के पहले मसूरी पहुँचे
देहरादून में पन्द्रह रुपये की किताबें बेच लीं—पाँच दिन में। इस
बड़ी एक नवजात बुकसेलर की सफलता और क्या होनी चाहिए थी
मसूरी देखी और उसके पहले मसूरी की राह देखी। अगर मेरी य
ठीक है, तो कालिदास दुष्यन्त को एक बार शायद ऐसी ही राह पर
गये थे, जहाँ से उन्होंने अपनी सवारी से नीचे झाँक झाँककर उड
हुए बादलों को देखा था। मसूरी में सनातनधर्म-धर्मशाला में ठह
दूसरे-तीसरे दिन लीला की तबीयत खराब हो गई। इलाज की फि

पड़ी। डाक्टर इकबालहुसेन जैदी का इलाज हुआ। धड़कन, बुखार और कुछ पेट की खराबी की शिकायत थी। डाक्टर साहब को लाकर दिखाया। दवा ने फौरन और ठीक काम किया। डाक्टर साहब बड़े योग्य, सज्जन और मित्र-स्वभाव के हैं। उनकी आँखों में एक गहरी गुलाबी रङ्गत रहती है (अगर वह मई सन् '४१ की ही कोई खास रङ्गत नहीं थी), जिसे, मैं समझता हूँ, उनका कोई भी कमजोर-दिल मरीज़ नहीं भूल पाता होगा। उनकी दूकान की सादगी को देखते हुए उनके घर को शाही कहा जा सकता है। उनकी सहृदयता को मैं याद रक्खूँगा।

लीला की तबीयत कुछ सम्हली, तो वापस आगरा चलने की तैयारी की गई, क्योंकि यहाँ की उतार-चढ़ाव की सड़कों पर वह चल नहीं सकती थी और पेलिपटेशन की शिकायत यहाँ दूर होनी ऊँचाई की वजह से कठिन थी। चलते-चलाते ए० बी० सनातनधर्म गर्ल्स मिडिल स्कूल की हेड मिस्ट्रेस मिस एम० मुकर्जी के हाथों कुछ किताबें बेची जा सकीं। जब अपने लिए एम० ए० की परीक्षा क लिए हिस्ट्री की पुस्तकों का प्रबन्ध कर देने की बात उन्होंने मुझसे कही और इस सिलसिले में उन्होंने अपना प्रास्पेक्टस मँगाकर मुझे दिया, तो मैंने कहा—'यह किताब (प्रास्पेक्टस) आपकी है न? इस पर अपना नाम लिखिए।' उन्हें कुछ झिझक सी हुई और उनके क्लर्क ने उनके सहायतार्थ पुस्तक पर हेड मिस्ट्रेस की मोहर लगा दी। मैंने कहा—'अपनी किताब पर आपको अपना नाम लिख देने में एतराज़ क्या है?' और उन्होंने उस पर लिख दिया—(Miss) M Mukerjee

इस 'एम्' का अर्थ? माया, मालती, मोहनी, मनोरमा—होगा कुछ! मैंने पूछा नहीं।

मसूरी में आते ही पहला दोस्त बनाया छोटे-से मसूरी स्टेशनरी-स्टोर्स के मैनेजर मिस्टर रघुनन्दनप्रसाद को। ये एक सुस्वभाव गढ़वाली नवयुवक हैं और देहरादून के मिस्टर सलूजा के वैतनिक मैनेजर हैं।

२८ मई को मसूरी से रवाना हुए। पुस्तकें पण्डित सदानन्दजी के पास, जिनकी मसूरी में पुस्तकों और स्टेशनरी की दूकान है, रख दीं। पण्डितजी शान्त और धीरे-धीरे उदार होनेवाली प्रकृति के व्यक्ति हैं। भल स्वभाव के हैं और, जान पड़ता है, पैसा कमाना जानते हैं।

२८ की रात देहरादून में उसी जैन-धर्मशाला में रहकर २९ को हरद्वार पहुँचे। मसूरी में चौथी और पाँचवीं रात का धर्मशाला के कमरे का किराया भी देना पड़ा था, क्योंकि तीन दिन से अधिक वहाँ ठहरने की आज्ञा नहीं है। हरद्वार में गङ्गाजी के स्नान किये, गुलज़ार बा-बहार हर की पैड़ी की सैर की, बाज़ार का चक्कर लगाया और ३० को वहाँ से चलकर ३१ को सुबह आगरा आ पहुँचे। लीला की तबीयत सम्हली रही और आगरे में अपना ५-६ दिन का विश्राम आरम्भ हो गया।

१६-६- '४१

५ जून को आगरे से चलकर ६ को फिर मसूरी। देहरादून पहुँचने-वाली गाडी पर तीन लड़कों की एक मण्डली से कुछ बातचीत हुई और मसूरी की सनातनधर्म-धर्मशाला में पहुँचने पर देखा, वे लोग भी उसी में आ ठहरे हैं। साथ हो गया। आज़मगढ़ के इन तीन विद्यार्थियों की टुकड़ी में कप्तान थे मिस्टर दाऊदयाल अग्रवाल, अठवारिया स्टेट के मालिक के सुपुत्र। १८-१९ साल की उम्र है, नवीं क्लास में पढ़ते हैं, लेकिन तबीयत में बुज़ुर्गी है। स्वभाव अच्छा और दयालु है। हुकूमत और पैसे का न घमण्ड है, न दिखावा। सिर्फ स्मोकिंग का शौक़ है। दो नई चीजों का परिचय मसूरी में रहने के लिए मैंने उन्हें करा दिया है—चाय और डबल रोटी। शेष दो उनके सहपाठी हैं। सन्तन पाठक मिलनसार और श्रद्धालु प्रकृति के नवयुवक हैं। भक्ति-भावात्मक लेखों को नाटकीय भाषा में पढ़ने में उन्हें रस मिलता है। जीवन का कुछ उद्देश्य भी बनाना चाहते हैं। बनारसी पाँडे उन

नवयुवकों में से हैं, जो किसी प्रकार की भी असाधारणता अपने भीतर नहीं रखते। इन सबके साथ है दाऊदयालजी का सेवक 'सेवक'। मालिक का वफादार है, और इसी लिए मालिक पर कुछ अधिकार भी रखता है। मालिक का रुख़ पहचानकर मालिक के मित्र मेहमानों का आदर करना जानता है। मुझे इस टोली के नेता की ओर से इसमें सम्मिलित होने का निमन्त्रण मिला और मैंने स्वीकार कर लिया। इस स्वीकृति के लिए एक बड़ा आकर्षण था सेवक—रोटियाँ पकानेवाला सेवक। परदेस में पकी-पकाई रोटी कोई घर बैठे खिला दे, तो वह मीठी भी बहुत होती है और पैसे भी बहुत बच जाते हैं। शायद इसी वजह से उन रोटियों की मोटाई ने—चाहे मैं एक बार में एक खाऊँ या डेढ़ या दो—कभी पेट में पहुँचकर कच्चे होने का शोर नहीं मचाया, और उस 'भात' ने अपनी विपुलता के बावजूद कभी खाँसी या ज़ुकाम की ख़राश तक पैदा नहीं की।

दो दिन और दो रातें धर्मशाला में बिताईं। दूसरी रात को कोट की जेब से फाउण्टेनपेन ग़ायब हुआ और उसके बाद सवेरे दोहरी ऊनी चादर। सोचा, अभी इतनी आमदनी कहाँ कि ५-७ रुपये ख़र्च करके फ़ाउण्टेनपेन ख़रीदा जाय, तब तक पेंसिल ही काम करेगी, और गरम चादर खरीदने का तो सवाल ही नहीं उठता। जो हलका कम्मल साथ बचा है, वह मसूरी में जून की सर्दी-बरसात भर के लिए काफ़ी है।

८ जून को लक्ष्मणपुरी में एक कमरा इस पार्टी ने किराये पर लिया; पर किराया तय न होने की वजह से और कुछ मसूरी में जी न लगने की वजह से मेरे ये चारों मित्र ११ जून को हरद्वार के लिए रवाना हो गये। कमरा छोड़ दिया गया, तीन रातों के कुछ पैसे देकर। ११ और १२ की रातें उसी धर्मशाला में बिताकर मैंने महन्त लक्ष्मणदास के अहाते में एक यात्री व्यापारी सज्जन द्वारा किराये पर ली हुई एक कुटिया में जून के अन्त तक के लिए साझा कर लिया। यह स्थान

आसपास के दृश्य और एकान्त होने की दृष्टि से मेरे लिए बहुत अच्छा है। मिस्टर दीनदयाल इस कुटिया के किरायेदार नं० ५ हैं। घड़ी के पुर्जे बेचते हैं। अच्छे और सीधे-सादे पञ्जाबी भाई हैं। किराये-दार न० १ मिस्टर एन० आर० भारद्वाज से, जो वीणा टेक्सटाइल्स, लुधियाना के आर्गेनाइजर हैं, पहले परिचय हुआ। उनकी मार्फत ही इस काटेज में मुझे जगह मिली। उनकी सलाह है कि मैं उनके टेक्सटा-इल्स का काम भी साथ-साथ करूँ। खुशमिजाज और तेजदम आदमी हैं। १४ जून को वे आगे अपने दौरे पर चले गए।

९ तारीख से मैंने अपनी फेरी शुरू की। पहली ग्राहक हुईं मिस मुकर्जी, जिनके लिए एक इम्तहान के पर्चों की पुस्तक लाया था। उनके लिए परीक्षा की पुस्तकों का प्रबन्ध मैंने आगरे से कर दिया है और उनके सम्पर्क में आनेवाला मैं पहला बुकसेलर हूँ, जो वादा-खिलाफ नहीं है। दूसरे ग्राहक हुए लाला रेवतीप्रसादजी पुस्तकाध्यक्ष सनातन-धर्म-सभा पुस्तकालय। आप एक हँसमुख नवयुवक हैं और आटा-दाल-आलू आदि की दूकान भी करते हैं। एक रुपये में तीन पुस्तकें खरीदीं। इस तरफ धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं के पदाधिकारी इसी वर्ग के व्यवसायी प्राय: देखे जाते हैं और ये पैसेवाले भी होते हैं।

११ तारीख (सम्भव है १२) को प्रतापगढ़ के महाराज ने .. (एक बुकसेलर को महाराजाओं क नाम से क्या मतलब, मैंने नाम पूछा भी नहीं) पुस्तकें खरीदीं। महाराज नवयुवक हैं और उनमें एक भारतीय राजकुमार का गठन और सौन्दर्य है। उनके 'रामप्रिया-हाउस' की छतरी के नीचे बैठे हुए महाराज के सामने रखी हुई टेबल पर पुस्तकें पेश करत हुए मानो उनकी उदारता से पूरित वहाँ के छोटे से वातावरण में मैंने अनुभव किया कि मैं भी उनका आदरप्राप्त एक दरबारी हूँ। किसानों और गाँवों मे, जान पड़ता है, महाराज की अच्छी रुचि है। 'किसानों की कहावतें' नामक पुस्तक में से कुछ कहावतें महाराज ने रुचिपूर्वक पढ़कर सुनाईं। 'जेबुन्निसा के आँसू' में

से कुछ चीज़ें उनके एक मुसाहिब ने पढ़कर उन्हें सुनाईं। 'जेबुन्निसा के आँसू' महाराज नहीं ख़रीद सके—शायद इसलिए कि वह अच्छी होते हुए भी एक मुसलमान राजकुमारी की चीज़ थी और वे थे एक सम्भ्रान्त हिन्दू राजकुमार। उन्हें उससे मतलब! उसमें जैसे एक मीठा-सा अनाकर्षण था। महाराज के मुख से एक बुकसेलर के लिए 'आप' का सम्बोधन मेरी दृष्टि में एक विशेष आदरणीय बात थी। पाँच-सात पुस्तकें उन्होंने ख़रीदीं। उनकी सुरुचि प्रशसनीय है। सत्येन्द्र जी का 'मुक्तियज्ञ' उन्हें विशेष पसन्द आया। उनकी पसन्द की हुई पुस्तकों में 'शुभ्रा' भी है जो, उन्हें क्या मालूम, मेरे लिए एक गौरव की बात है।

महाराज के सेक्रेटरी और उनके स्टाफ के एक अन्य सदस्य (उनके भी नाम मैंने नहीं पूछे) बड़े सज्जन और मिलनसार प्रकृति के हैं। उनका मुझ पर विशेष कृपा-भाव रहा।

लन्दन-बुकहाउस के मालिक मिस्टर खन्ना की उक्त नाम की दूकान पर कुछ पुस्तकें बिकने के लिए रख दी हैं। बिकी हुई पुस्तकों पर उन्हें कुछ कमीशन देना होगा। मिस्टर खन्ना अच्छे आदमी हैं। हिन्दी साहित्य के कुछ कद्रदाँ भी हैं।

फेरी लगती रहती है और तरह-तरह के लोग आँखों से गुज़रते रहते हैं। एक दिन कसमंडा-लाज है, तो दो दिन हिमालय-क्लब, कभी कैप्टेन रामचन्द्र की डिस्पेंसरी है, तो कभी लाला बैसाखीलाल की दूकान। हिमालय-क्लब में औसत दर्जे के 'शिक्षित' हिन्दू-परिवार ठहरते हैं। कालेजिएट लड़कों, लड़कियों और पढ़ी-लिखी बीबियों की चहल-पहल वहाँ खासी रहती है। 'बाबूजी' या 'बीबीजी, हिन्दी की किताबें देखिएगा?'—बुकसेलर की सदा होती है। 'नहीं'; 'नो, थैंक्स'; 'वी आर वेरी बिज़ी'; 'ऊपर लाना', 'लाओ देखें' आदि उत्तर मिलते हैं। किताबें देखी जाती हैं, चुन ली जाती हैं, कमीशन काटकर दाम बतला दिये जाते हैं, तब और कमीशन के लिए झगड़ा चलता है

और अक्सर कुछ घटा-बढ़ी करके फैसला कर लिया जाता है। लेकिन इसके मानी यह होते हैं कि खरीदनेवाले की गरज़ ज़रूरत से कुछ कम और बेचनेवाले की ज़रूरत से ज्यादा होती है। गरज का यह अनुपात जल्द ठीक कर लिया जाना चाहिए।

कसमंडा के सेक्रेटरी साहब ने तो मँहगी होने के कारण केवल दो रुपये पाँच आने की छाँटी हुई दो पुस्तकों को भी, कमीशन न देने की वजह से, लेने से, इनकार कर दिया। मेरी वही कमज़ोरी, पुस्तकें वापस लेकर मैंने उनसे कहा—'खैर, यह तो रही बिजिनेस की बात, इसे जाने दीजिए। मेहरबानी करके मेरी एक भेंट युवराज के पास पहुँचा दीजिए।' मैंने भेंट के दो शब्द लिखने के लिए उनसे उनका फाउंटेनपेन माँग लिया। मैं एक पुस्तक पर कुछ लिखने को ही था कि उन्होंने मुझे रोककर कहा—'अभी रहने दीजिए, महाराज (युवराज) अभी बाहर जा रहे हैं, भेंट अभी मत कीजिये .....और वैसे भी पुस्तक की भेंट तो लेखक की तरफ से होनी चाहिए।' (न कि एक बुकसेलर की तरफ से—उनका मतलब था।) 'यह लेखक की ही तरफ से है'—मैंने कहा। और बातें हुईं। सेक्रेटरी साहब ने बतलाया, लेखकों के लिए उनके दिल में बड़ा सम्मान है, मानो लेखक मनुष्य से ऊपर की कोई चीज़ है, या फिर बुकसेलर मनुष्य नहीं है। मैंने उनसे कह दिया कि लेखक या किसी दूसरी तरह से बड़े आदमी की कदर करना हम तब तक नहीं सीख सकते, जब तक मनुष्य की कदर करना न सीख लें। भेंट की पुस्तक उस समय लेने में उन्हें हिचक हो रही थी, इसलिए मैंने ज़ोर नहीं दिया। मेरे चलते समय उन्होंने कहा—'वे दोनो किताबें तो देते जाइए।' 'कमीशन कुछ नहीं मिलेगा।'—मैंने कहा। उन्होंने पूरे दाम देकर पुस्तकें ले लीं।

हिमालय-क्लब में और दूसरी जगहों में भी, जब मेरे ये भाई 'बाबू लोग' और उनके साथ दो-एक 'बीबी लोग' कुर्सियाँ डालकर बैठ जाते हैं और मैं उस घेरे के बीच फर्श पर बैठा हुआ किताबें बक्स

से निकाल-निकालकर उन्हें दिखाता हूँ, या जब कोई साहब और साहिबा अपने कमरे की देहलीज के भीतर कुर्सी पर बैठ जाते हैं और मैं पायदान के पास धरती पर बैठकर उनके सामने किताबें पेश करता हूँ, तब मुझे एक खास मजा और विशेष गौरव का अनुभव होता है। मैं अपने आपको अपने बड़े परिवार के बीच लौटकर (जी हाँ, मैं अपने-आपको ऐन औसत से कुछ ऊपर के आदमियों में समझता रहा हूँ) आया हुआ पाता हूँ। अब मैं समझ रहा हूँ कि दुनिया में—और शायद हिन्दुस्तान में सबसे अधिक -आदर और श्रद्धा के योग्य मनुष्यों की संख्या कुर्सियों की तादाद से बहुत ज्यादा है।

कभी-कभी एक-आध बात वैसी मेरे मुँह से निकल जाती है, एक-आध नजर मेरी वैसी उठ जाती है, जिसमें मैं कह बैठता हूँ, 'हलो डियर ब्वाय, तुम अभी तक इतने सीधे, इतने कोरे बने हुए हो!' और शुकर है कि मेरी वह चूक उनकी पकड़ में नहीं आती। वे ठीक कोरे ही निकलते हैं। एक सज्जन ने 'मायापुरी' खरीदी और दूसरे दिन मुझे बताया कि किताब बहुत अच्छी निकली और उन्होंने उसे सबेरे चार बजे तक पढ़ा। मैंने कुछ तोले हुए लहजे में कहा—'ऐसे नहीं, जरा थम-थमकर पढ़ा कीजिए।' पर उनकी समझ में यह बात नहीं आई। एक मिस्टर श्रीवास्तव ने, जब कि आठ या दस रुपये की एक पुस्तक मैंने चार रुपये में न दे सकने की अपनी मजबूरी जाहिर की, कहा—'आपने हमारा जी खट्टा कर दिया, अब हम आगे कोई किताब क्या देखें?' मैंने देखा, बात करना इन्हें कितना कम आता है और व्यावहारिक विनय और शिष्टाचार! वे तो कुछ और भी दूर की बातें हैं। क्यों साहब, जिस बुकसेलर के कपड़े- सही सादे कपड़े, कुर्ता या कमीज, धोती या पाजामा—मैले न हों, जिसके बाल बढ़े हुए न हों और जो साफ-सुथरा और आपका हमउम्र या कुछ कम उम्र भी सही—नौजवान हो, उसे ऊपर कुर्सी पर बैठने के लिए आप क्यों नहीं कहते?

पर क्या किया जाय, न आपके किसी स्कूल-कालेज ने और न आपके दिल ही न आपका यह सबक़ पढ़ाया है!

१५ जून की वह बात!

किताब-घरवाली सड़क पर जो चलती हैं, वे सब सुन्दरियाँ और मूर्तिमान प्रदर्शिनी होती हैं। चलनेवाले सुन्दर और सजीले होते हैं। जो कोई अनजान लेडीज़ और जेन्ट्स, गर्ल्स और यंगमैन ऐसे नहीं होते, वे कम से कम 'बड़े लोग' जरूर होते हैं और जो यह भी नहीं होते, वे मनचले हुस्नपरस्त होते हैं। जो यह भी नहीं होते, उन थोड़े-सों की बात मुझे यहाँ नहीं कहनी है। एक और किस्म के लोग उस सड़क पर मिलते हैं, जो सिर्फ इन्सान होते हैं और कभी कभी उन्हें अपने इन्सान होने की याद भी भूली रहती है। रूपली और बादुरी ऐसे ही दो इन्सान हैं। एक बाप के दो बेटे, एक की उम्र १० साल, दूसरे की ८ साल। किताब-घर के चौक में जब बड़े लोग बेन्चो पर बैठ जाते हैं, तब ये दोनों—और भी दर्जनों उनके बूटों पर पालिश करते हैं।

'देखो जी, हम तुमको पालिश का एक पैसा देगा।'—एक बाबू साहब ने, जो शुद्ध हिन्दुस्तानी बोलनेवाले थे, साहबी भाषा में रूपली से कहा, जब कि वह एक बूट पर पालिश कर चुका।

'नहीं बाबूजी, दो पैसे।'—रूपली ने कहा।

'तो रहने दे, मत कर पालिश।'

'बाबूजी, अब तो एक जूते पर पालिश हो चुकी है।'

'ओ बदमाश के बच्चे! दूसरे से तूने एक पैसा लिया है, हमसे दो माँगता है! पाजी, सूअर . ..', वह कहते गये।

पास बैठे हुए एक गुजराती या मराठी सज्जन ने उनका साथ दिया। यू० पी० की भाषा में गालियाँ उन्हे अच्छी तरह याद थीं। एक दूसरे

लड़के ने इन दूसरे सज्जन के बूट पर हाथ लगा दिया। 'बाबूजी, पालिश ?'—उसने प्रार्थना की।

'देखता नहीं, फोड़ दूँगा माथा ..' वह बहुत कुछ कहते गये।

लड़के का माथा सचमुच जूते की ठोकर से फूटते-फूटते बचा। मैं पास ही बैठा था। जूते की वह ठोकर और वे गालियाँ जैसे मुझ पर ही पड़ रही थीं। मेरा जी उमड़ रहा था। रूपली जैसे मेरा सगा छोटा भाई था। एक छोटा-सा हाथ डरता-झिझकता मेरे पैरों की तरफ बढ़ा। यह बादुरी का हाथ था। 'बाबूजी, पालिश ?'—उसने कहा। मैंने जूते उतार दिये।

बादुरी पालिश करने लगा। पालिश हो चुकी। बूँदें पडने लगीं। 'लाओ जूता, देखो पानी आ गया।'—मैंने कहा।

'बाबूजी, अभी इसे और चमकाऊँगा। आइए, आप उस छतरी के नीचे खड़े हो जाइए।'—उसने कहा।

छोटा-सा बादुरी मनुष्य था और वह पैसे से ऊपर की चीज़ को जानता था, जब कि उसने अपने भाई से कहा था—'यह बाबूजी ख़ुशी से दो पैसे देंगे।' वह जानता था कि पैसे उसे उतने काम पर भी—जब कि जूते का सिर्फ़ ख़ूब चमकाना बाकी रह गया था—दो मिलने को थे।

हम तीनों छतरी के किनारे जा पहुँचे। 'दुनिया में वैसे लोग भी होते हैं और ऐसे भी!'—जूते को रगड़ते हुए बादुरी ने कहा। मैंने सुना, दिल की गहराई से एक विश्व-साक्षी दार्शनिक बोल रहा था—'इतना बड़ा जूता और एक पैसा दिया। ऊँह् क्या हुआ, भगवान और देगा।'—बादुरी कह रहा था। उसके हृदय ने रूपली की आत्मा को अपने भीतर समेट लिया था, उससे उसकी सहानुभूति अभेद थी और वह ग़रीब नहीं, सन्तोष धन का धनी, महाधनिक था। रूपली को एक पैसे का नुकसान हुआ था। उसकी एक इकन्नी और भी खो गई थी। उसके समूचे घाटे का बोझ उठाना मेरे सामर्थ्य के बाहर था।

पालिश कराई देने के लिए मैंने बादुरी को एक इकन्नी दी। उसने उसके चार पैसे मेरे हाथ पर रख दिये। दो पैसे उसमें से मैंने उसे दे दिये, फिर एक पैसा और। बादुरी के भगवान् ने जैसे उसके भाई का घाटा पूरा कर दिया। मैंने एक पैसा, अपनी सम्पत्ति का आधा भाग, अपने एक भाई की सेवा में खर्च कर दिया। खोई हुई इकन्नी के लिए सब्र करने को मैंने उनसे कहा। उन्हें सब्र था।

वहाँ से डेरे तक आते हुए रास्ते भर मैं सोचता रहा कि इन नीच कहलानेवाले अपने भाइयों में मैं रल-मिल जाऊँ और दुनिया की निगाहों में ऊपर उठूँ, तो इन्हे साथ लिये हुए उठूँ—तभी मेरी यह सी साधना सफल होगी—यही मेरी इस मञ्ज़िल की साधना होगी।

मेरे आँसुओं ने उमड़-उमड़कर कहा—ये मेरे भाई हैं, ये मेरे भाई हैं; और मैंने कहा—इनके लिए मैं कुछ करूंगा, कुछ करूंगा।

२१-६-४१

पञ्जाब सिन्ध होटल का वह कमरा। नम्बर भी उसका नहीं देखा। बड़ा शिक्षित और सहृदय परिवार था। दो युवक भाई-भाई-से, एक नवयुवा गृह-स्वामिनी और एक इनमे से किसी की बहन-सी—प्रेमा, और दो छोटे-छोटे बच्चे। चर्खे और सूत मे मेरी कोई विशेष श्रद्धा नहीं है; लेकिन उस सौम्या गृह-स्वामिनी के हाथो चर्खा चलते देखकर, उस चर्खे के कारण ही, उस गृह-स्वामिनी के प्रति मेरी श्रद्धा विशेष जाग उठी। 'एक दिन तुम खद्दरधारी थे, आज यह फैशन है! ले जाओ ये विदेशी कपड़े, मैं नहीं खरीदने दूंगी।'—गृहदेवी के अपने देवर (?) के प्रति कहे हुए ये शब्द मेरे कानो में विशेष श्रद्धेय बनकर बड़ी देर तक गूंजते रहे। पाँच किताबें ली गईं। उनमे से 'रेखा-चित्र' बड़े भाई साहब को विशेष पसन्द थी और 'शुभ्रा' प्रेमा को। 'पूजा' के (और इस तरह 'शुभ्रा' के भी) लेखक को, छोटे भाई साहब ने बतलाया कि वे जानते थे, यानी सुन चुके थे। लेकिन उन्होने कभी उसे देखा भी? नहीं देखा, न सही!

जी चाहा, इस प्रसन्न परिवार को मित्र बना लूँ। लेकिन सोचता हूँ—ज़रूरत ?

रात को दो-एक साथियों के आग्रह से सिनेमा देखा—नरसी भगत। भक्त और भगवान् के पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध में की गई कल्पनाएँ कुछ अस्वाभाविक भी हों, उनके आदर्श से नीची जँचती हुई भी हों तब भी जन साधारण के श्रद्धालु हृदय को जगाती ही हैं, उनसे लाभ अवश्य होता है।

सिनेमा-घर में ही आगरे से लौटाया हुआ एक नव-परिचित मित्र का पत्र मिला—श्रीपुर के सीनियर मुआफीदार (जागीरदार) और सकलाना स्टेट के रूलर के पोत्र श्री राजिवनयन सकलानी का। यह अभी नय नवयुवक हैं। इनसे पिछली बार आगरा जाते हुए रेल पर भेंट हुइ थी। आज उनका स्नेहपूर्ण पत्र मिला। कविता मे इन्हे आसक्ति है। इनक हृदय में भी कविता है; लेकिन अपनी अबोध सुकुमार भावुकता से इन्होंने अपने जीवन मे करुणा और निराशा भर रखी है, और कविता क साथ आइ हुई थोड़ी-सी कृत्रिमता ने इसम और भी सहायता दी है। फिर भी इनमे एक होनहार शासक क पौरुष का शैशवकालीन आभास और साथ ही एक सुन्दर सहृदय का आकर्षण भी है।

२२-६-४१

राजिवनयन के पत्र का उत्तर आज दिया। २८ को यहाँ से चलने का विचार है। उनसे देहरादून में भेंट हो सकी, तो अच्छा है।

'काशाना'-निवासिनी वह पञ्जाबिन माँजी बहुत अच्छी है। उन्हें अपनी लड़की क लिए किताबें खरीदन का शौक भी बहुत है। दूसरी बार उन्होंने मुझसे किताबें खरीदीं; लकिन अच्छा हुआ, मुझे पहचाना नहीं।

२३-६-४१

आज इरादा न होते हुए भी आखिर केमिल्स बैक रोड की फेरी लगाई ही। अच्छी किताबें लगभग निबट आई हैं, इसलिए इरादा ढीला हो रहा था। बिकी कुल एक किताब पौने नौ आने में। लंदन-बुक-हाउस का भी हिसाब आज कर लिया। इस तरह कुल मिलाकर आज तीन रुपए बारह आने की बिक्री हुई।

'रायगढ़ स्टेट के उस सिपाही ने कहा—'यहाँ कोई किताब नहीं लेगा, दो-तीन बुकसेलर लौटाए जा चुके हैं।' स्टेट के सेक्रेटरी साहब के दर्शन एक कमरे के भीतर हुए, सो 'कून किताबवाला-किताबवाला! बोइठो उधर, उधर बोइठो जाकर।' अपनी बिहारी (अगर मैं ग़लती नहीं कर रहा हूँ) लहजे में ज़रा बिगड़कर उन्होंने मुझसे कहा। लेकिन वह किताबें खरीदेंगे भी? कितनी देर बाद उन्हें फ़ुर्सत मिलेगी? ये बातें पूछने की मेरे बुकसेलर की हिम्मत न पड़ी। मैंने चाहा कि उन्हें बतलाऊँ कि बतौर एक सभ्य और पदाधिकारी-वर्ग के शिक्षित मनुष्य के उन्हें कहना चाहिए था—'भई, इतनी-इतनी देर आप इन्तज़ार कर सकें तो आपकी किताबें देखी जा सकती हैं', या 'कह नहीं सकता, कितनी देर बाद मुझे फ़ुर्सत मिलेगी, आपके पास वक्त हो, तो बैठ जाइए', या यह कि 'हमें किताबों की अभी ज़रूरत नहीं है।' हम हिन्दुस्तानियों को आम तौर पर बात करना नहीं आता और यह एक बहुत बड़ी कसर है।

२४-६-४१

अच्छी किताबें क़रीब-करीब बिक चुकी हैं, थोड़ी-सी बची हैं और इने-गिने विषयों की ही, इसलिए आज से फेरी का सिलसिला बन्द कर दिया है।

घनानन्द हाई स्कूल से डेढ़ रुपए लेने थे। आज के दिन मुझे बुलाया था। बड़ी देर में और कुछ मुश्किल से ही पैसे मिले। हमारे ये भाई, दफ़्तरोंवाले बाबू लोग दूसरों के समय और सुविधा का खयाल

करना नहीं जानते और इसका बहुत कुछ कारण यह भी है कि उनके समय और सुभीते का ख़याल उनके बड़े लोग नहीं करते। जब इन्हें ज़रा कड़ाई—भलमनसाहत-भरी कड़ाई—के रोब में ले लिया जाता है, तो ये एक मामूली बुकसेलर के लिए भी बड़े आदर-सत्कार के साथ मेहरबान हो जाते हैं। एक मास्टर साहब ने मेरे यह कहने पर भी कि पिछले दिन मैं किताबें दे गया था, कहा—'उस दिन आप तो थे नहीं।' मैं जवाब देने जा रहा था—'था तो मैं ही, मेरे कपड़े ये नहीं थे'; पर मैं रुक गया और उनसे यही कहा—'मैं ही उस दिन आया था, आपको पहचानने में दिक्क़त हो रही है।' वे शिक्षा-विभाग के कार्यकर्त्ता हैं। वे अपने-आपको सँभालकर यों कह सकते थे—'अच्छा, तो उस दिन आप ही आए थे', और इस सन्देह-सूचक वाक्य में एक शिक्षकोचित शिष्टता होती।

२५-६-४१

आज से यह एक रुपया सात आने का नया फाउंटेनपेन काम कर रहा है। आज से काम की क़रीब-करीब छुट्टी है। बिकने के लिए दी हुई किताबों और किताबों के दामों की वसूलयाबी में आज परेशानी उठानी पड़ी और काम कुछ नहीं बना।

२६-६-४१

आज यहाँ से चलने की तैयारी थी; पर हिसाब साफ न होने की वजह से रुकना पड़ा।

एक जगह से कुछ किताबें या उनके दाम मिलने बाकी हैं। आगरा के एक मित्र की ओर से आज ठहरकर 'नया संसार' देखने का आग्रह पूर्ण निमन्त्रण भी था। सुबह उनके यहाँ चाय पी। दिन को उगाही की दौड़-धूप। शाम को नया फिल्म 'नया संसार' देखा। भीड़ बहुत थी। सवा दो रुपये से कम का टिकट ही नहीं मिला। चित्र सुन्दर और कलापूर्ण था, कई स्थल बहुत अच्छे थे। एक साधारण श्रेणी का अच्छा स्थल मुझे विशेष अच्छा लगा जब कि एक समाचार-पत्र के मैनेजर ने

आफिस ब्वाय के 'मैनेजर साहब' कहकर पुकारने पर कहा 'मैनेजर साहब नहीं, मिस्टर शर्मा!' कितना अच्छा और उपयोगी हो अगर दफ़्तरों में दूसरी जगह भी छोटों-बड़ो, मातहतो-अफसरो को उनके नाम से ही सब पुकारा करें।

१२-७-४१

२७ जून को मसूरी से चलकर २८ की रात आगरा। मसूरी की इन लगभग एक महीने की फेरियों में १३० रुपए की किताबें (अब याद नहीं कितने में) बिकीं, जिसमें कुल ११ रुपए की बचत कुली का खर्च काट कर हुई। जितना कुल खर्च हुआ, उसका आठवाँ हिस्सा भी बचत नहीं हुई, लेकिन तजरुबा हो गया कि किताबें बेची जा सकती हैं और हौसला हो गया कि किताबें बेचकर आगे इतनी आमदनी की जा सकती है कि खर्च निकालकर भी बचत हो सके। बेचने की कला सीखने और इसके लिए दम इकट्ठा करने के लिए इस घाटे के रूप में जो फ़ीस दी गई, वह कुछ बेजा नहीं है। विक्रय-कला मे जो कुछ अपने लिए सीखना-सुधारना है, उसका कुछ भाग अभी से सूझता दीख रहा है।

२९ जून से ५ जुलाई तक बुकसेलरी से इस्तीफ़ा-सा रहा। ६ की सुबह लीला को भी साथ लेकर इटावे के लिए प्रस्थान हुआ। अबकी बार पुस्तकों का अधिकांश स्टाक प्रकाश ब्रदर्स से लिया गया है।

आगरा शहर से ही फीरोज़ाबाद स्टेशन तक चौधरी छोटेलाल यादव, तहसीलदार अतरौली, जिला अलीगढ़, का साथ रहा। तहसील-दार साहब मिलनसार और अपने ग्रामीण शासितों में हिल-मिल जाने-वाले व्यक्ति जान पड़ते है। वे राह-चलते ट्रेन पर ग्रामीण अंधसुथरे बच्चों के साथ खेल सकते हैं। मुझे उन्होने अपने यहाँ अतरौली आने का—किताबें बेचने और आम खाने के लिए—निमन्त्रण दिया।

६ को बहन के घर इटावे रहकर ७ की रात हम फ़तेहपुर पहुँचे। यहाँ बड़ी बहन क घर ठहरे हैं। थोड़ा-थोड़ा काम शुरू किया है। अभी मित्रो और सहपाठियो से मिलने की सरगर्मियाँ हैं। दस-दस

बारह-बारह बरस के बिछुड़े साथी मिल रहे हैं। अभी मिलते हुए जी नहीं भरता। मैंने देखा है, हमारा स्नेह सजीव है। मेरे इन मित्रों में सबसे पहले भगवती सहाय से भेंट हुई। भेंट इनसे पिछले साल भी हुई थी। इनके स्नेह और सौम्य स्वभाव ने मुझ पर शीघ्र ही अपना पुराना अधिकार जमा लिया है। यह अब वकील हैं मोहनलाल पांडे भी वकील हैं। औसत से कुछ अधिक दम और हौसला रखनेवाले हैं। लोक-व्यवहार, पर-सम्मान और अपने पुराने मित्रों के लिए प्रेम-भाव के पाठ इन्होंने काफी ठीक पढ़े हैं। शम्भूनाथ भी वकील हैं। प्रेमी हैं। बचपन और बुज़ुर्गी की मिलौनी इनमें साफ दीखती है। बच्चन यानी इकबाल बहादुर अब रूरल डेवलपमेंट के इंस्पेक्टर हैं। अवकाश की कमी होते हुए भी हिन्दी और खासकर उर्दू की कविताएँ सुन्दर लिखते हैं। एक दार्शनिक का मस्तिष्क रखते हैं और एक बेगुनाह सीधे-सादे कामकाजी का हृदय। उनकी जो थोड़ी-सी कविताएँ सुनीं, उनसे ऐसा ही जान पड़ा। लाल साहब यानी जयकृष्ण कलक्ट्रेट में एक अहलकार हैं। पुरतपाक मिलनेवालों में हैं, कहानियाँ अच्छी और लगन के साथ लिखते आ रहे हैं और प्रेमचन्द के अनुगामी हैं। मोती बाबू यानी मुरारीलाल फोटो और चित्रकला के अच्छे आर्टिस्ट हैं, दोस्तों का साथ दूर तक निभाने का दम रखते हैं। परमेश्वरीदीन यादव अब एक लगन के साथ काम करनेवाले ट्यूटर हैं। इनकी विनोद-प्रियता का स्थान अब गम्भीरता और परिश्रमशीलता लेती जा रही हैं। मुझे दीख रहा है, यह एक आदमी—स्वयं निर्मित आदमी—बनने जा रहे हैं। कद्रदानी का भाव इनका सराहनीय है।

अब बस! बुकसेलर की डायरी मे पुराने दोस्तों की चर्चा इतनी भी न आनी चाहिए थी। इसमें तो जगह अनजाने लोगों के लिए ही होनी चाहिए। कुछ-एक मित्रों की चर्चा छूट गई है—जैसे गोपालचरन, जो अब एक होमियोपैथ डाक्टर हैं। और फैयाजहुसेन—अब एक आनरेरी मजिस्ट्रेट—जिन्होंने मुझे बड़ा आदमी समझकर कोर्ट के बरांडे में

पहचान लिया था। दो-चार और ऐसे हैं; लेकिन अब बस ही सही।

प्यारे साहब यानी बाबू केशवसरन वकील यद्यपि पुराने देखे हुओं में हैं, फिर भी उनका ज़िक्र नव-परिचितो में किया जा सकता है। मेरे भाई साहब के मिलनेवालों मे हैं। सामना होने पर जब मुझे पूछा-पहचाना, तो सौजन्य से पेश आये। बातें हुईं। मालूम हुआ कि वे यहाँ की भारतीय कुंज लाइब्रेरी के प्रेज़िडेंट हैं। इन्होंने अपनी लाइब्रेरी के लिए किताबें दिखाने को मुझसे कहा। दूसरे दिन किताबें उन्हें दिखलाईं। कुछ अपने लिए ख़रीद लीं और कुछ लाइब्रेरी के लिए चुनने को रख लीं। पर-सम्मान का जो भाव उनमें है, उसे देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। मैंने उनमें एक ऐसे अभाव की सन्तोषजनक पूर्ति देखी, जो अधिकाश भारतीयों के हिस्से मे पड़ा हुआ है।

डाक्टर छैलबिहारी मेरे पुराने मेहरबान हैं। बहुत-सी डिगरियों के मालिक हैं, इसलिए उनका दिमाग़ भी स्कीमों की एक खान है। उनकी माफ़त अछूत लाइब्रेरी के प्रधान लाला गजोधरप्रसाद से भेंट की। ये पासी जाति के एक रत्न हैं। स्थानीय म्युनिसिपल बोर्ड और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेम्बर हैं। अपनी ज़िम्मेदारियों को इन्होंने सम्हाला हुआ है, यह सराहनीय है। नवयुवक हैं, सहानुभूति को समझने और उसकी कदर करनेवाले हैं। अपनी लाइब्रेरी के लिए कुछ किताबें चुनी हैं, मेरी सिफारिशो के सहारे। उनकी रुचि और परख के सम्बन्ध मे इसलिए मुझे कुछ आशंका है।

२१-७-४१

१३, १४ और १५ जुलाई के तीन दिन गाँव की सैर में बीते। १६ तारीख़ से फतेहपुर में काम शुरू हुआ। गवर्नमेंट हाई स्कूल के संस्कृत-अध्यापक पंडित रामचन्द्र मालवीय से मसूरी में भेंट हुई थी। यहाँ उन्हे मेरी सहायता करने में काफी दिलचस्पी है। हेडमास्टर से

मिलाया। मालवीय जी सहृदय और उपकारी प्रकृति के सज्जन हैं। हेडमास्टर साहब भी सरल और उदार स्वभाव के हैं।

स्कूली किताबों के आर्डर विद्यार्थियों से मिले हैं। तेज और पूरा काम करने की समाई मुझमें अभी कम ही है। जितना और जैसा काम हो सकता था, नहीं हुआ। फिर भी यह अधूरी सफलता और काम करने की समाई आशाजनक है। मैं अब समझता हूँ कि अधिकांश लम्बी तनख्वाहें पानेवाले भी कितने निकम्मे हुआ करते हैं। गॅवर्नमेंट स्कूल में काम कल खतम कर दिया है। जितनी पुस्तकें बिकने का अनुमान है, उनका आर्डर भेज दिया है। इस्लामिया हाई स्कूल के हेडमास्टर साहब से भी भेंट कर ली है और कुँवर चन्द्रभूषण ऐंग्लो-संस्कृत हाई स्कूल के हेडमास्टर से भी।

भारतीय कुंज (लाइब्रेरी) के सेक्रेटरी श्री बद्रीप्रसाद मिश्र वकील का नाम छूटा ही जा रहा है। उनका उल्लेख जरूरी है। मिश्र जी शायद अपने से छोटे दीख पड़नेवाले और अपने से बड़े जान पड़नेवाले, दोनों तरह के लोगों में से योग्य मित्र ढूँढ़ लेने की कला जानते हैं। यह एक बड़ा ही उपयोगी गुण है। उन्होंने लाइब्रेरी के लिए और अपने लिए भी कुछ पुस्तकें खरीदीं। उनका सौजन्य सराहनीय है। मैंने उनके सम्पर्क में आकर देख लिया है कि पुस्तकालयों के सेक्रेटरियों को अपना स्थायी ग्राहक बनाया जा सकता है और यह कितना अधिक उपयोगी है।

२२-७-४१

आज गयाप्रसाद एंड संस के यहाँ से पहला पासेल किताबों का आया। कोई खास बात आज की नहीं है। कलक्ट्री में कुछ मित्रों से गपशप की। वहाँ मिठाई, अंगूर और वकील साहब बाबू राजबहादुर लमगोड़ा की दूध डबल रोटी खाई। लमगोड़ा साहब को इसका पता नहीं है।

२३-७-४२

आज फतेहपुर में काम से कुछ छुट्टी थी, इसलिए मोटर-लारी द्वारा बहुआ का चक्कर लगा लिया। ठाकुर बद्रीसिंह का नाम सुना था। उनके सुपुत्र रणवीरसिंह मिले। खातिर से पेश आए, जैसे मैं कोई बुकसेलर न होकर उनका एक मेहमान हूँ। सामने आने और अपना काम बतलाने पर उन्होंने आदर से लिया। 'आपके लिए पानी-वानी मँगवाया जाय?'—उन्होंने पूछा। 'नहीं, अभी थोड़ी ही देर हुई, मैंने पानी पिया है।'—मैंने कहा। 'वाह, आप धूप मे सफर करके आ रहे है, आपके चेहरे से मालूम होता है, आपको प्यास है।' उन्होने मेरा प्रतिवाद किया और नौकर को शर्बत लाने का हुक्म दिया। धूप के समय इतना सफर करने पर मुझे शर्बत की प्यास भला क्यों न होती? अपने, या किसी परिचित प्रियजन के, घर पहुँचकर अवश्य ही मैं कोई कोल्ड ड्रिंक (शर्बत-वर्बत) पीता। खैर, शर्बत पिया, पान खाया और किताबो के बक्स खोले। रणवीरसिहजी ने छाँट छाँटकर किताबें अपने पूज्य पिताजी के चुनाव के लिए भीतर भेज दीं। उन्होंने अपने पसन्द की पुस्तकें खरीदीं। रणवीर का व्यवहार मुझे प्रिय लगा। उन्होने कालेज मे भी शिक्षा पाई है, यह देखते हुए और भी। उस सद्व्यवहार का बहुत कुछ श्रेय हमारे ग्राम-शिष्टाचार को है।

आज सवा दो रुपये की मजदूरी (बचत) हुई, जो पिछले हरएक दिन की कमाई से अधिक है। आज बुध का दिन था और सायत-मुहूरत के विचार से आज मुझे लाभ की आशा से बाहर न जाना चाहिए था। सवेरे चलते समय मुझे किसी आचार्य का यह उपदेश याद आया था :—

बुद्ध कहे मै बड़ा सयाना, मोरे आगे न करौ पयाना।
नीके लै जैहो नीके लै ऐहो; पर कौड़ी से भेंट न करैहों।

मुझे ध्यान था कि आज काम न हुआ, तो आने-जाने का मोटर का किराया तो खर्च हो ही जायगा। आज मुझे बुध का कौतूहल था,

इसलिए और भी आज ही यह यात्रा कर डाली। मैं कह रहा हूँ, मुझे इस बात का 'कौतूहल' था; लेकिन बड़े-बड़े और समझदार आदमियों को भी ऐसी बातों का 'वहम' हुआ करता है कुछ-न-कुछ, और हर एक आदमी अपने भीतर टटोलकर उसे ढूँढ़ सकता है।

२४-७-४१

नए पार्सल की कुछ किताबें आज बिकीं, स्कूल में भी और बस्ती में भी। स्कूली किताबें आम आवश्यकता की चीजें हैं, इसलिए उनका व्यवसाय आसान पड़ता है और साहित्यिक पुस्तकों को आवश्यकता की चीज समझनेवाले कम ही होते हैं और कठिनता से ढूँढ़े मिलते हैं, इसलिए इनका व्यापार कठिनता से ही सधता है। इस व्यवसाय-क्षेत्र में खड़े होने के लिए पहले अपनी आर्थिक आधार-शिला को मजबूत बनाना आवश्यक है और इसके लिए स्कूली पुस्तकों के काम से अधिक सहायता मिल सकती है।

२५-७-४१

मामूली-सी बिक्री गवर्नमेन्ट स्कूल में हुई। पैर में एक छोटा-सा फोड़ा निकल आया है, जिसके दर्द से कुछ हरारत और चलने में तकलीफ है, इसलिए आज कम ही काम किया।

२६-७-४१

फोड़े से तकलीफ आज ज्यादा रही। गवर्नमेंट स्कूल का एक चक्कर लगाया। बहुत थोड़ी सी किताबें बेचीं। काम बेढंगेपन से किया जा रहा है। ज्यादातर लड़कों को किताबों का पता नहीं, उनके बिकने आने का पता नहीं, किताब कैसी है—लेनी चाहिए या न लेनी चाहिए, इस बारे में उन्हें ठीक तरह से कुछ कहा-सुना नहीं गया। कुछ किताबें लेकर मैं पहुँचता हूँ, जैसे चोरी से उन्हें बेचने गया हूँ। मास्टरों से जो बातचीत हुई है, वह अधूरी, दबी हुई; वर्ना मास्टरों द्वारा क्लास से पुछवा लिया जाय कि कितनी किताबों की जरूरत लड़कों को है और क्लास में दूसरे दिन उतनी ही किताबें दे दी जायँ। आज

मजबूरन् ऊबकर इसी ठीक ढंग पर काम किया। मालवीयजी से कहकर चौथी, पाँचवीं और छठी कक्षाओं के अँगरेजी शिक्षकों से मिलकर उन क्लासो से आर्डर ले लिए। दो-एक बार में अब काम पूरा हो जायगा। क्लासो से काफी-काफी आर्डर मिल गए हैं। तीसरा पार्सल आज आया।

२७-७-४१

आज इतवार का दिन छुट्टी का है। लाल साहब, प्यारे साहब (भातृ-द्वय) के यहाँ आज लीला की और मेरी दावत थी। पिछले इतवार को यह दावत लीला की अस्वस्थता की वजह से स्थगित करनी पड़ी थी। दावत सप्रेम और सुरुचिपूर्ण थी। मेरी तकलीफ अब करीब-करीब दूर हो गई है।

२८-७-४१

गवर्नमेंट स्कूल में कुछ किताबें और दीं। इस कार्यक्षेत्र में फुर्ती और मेहनत से काम करने की जरूरत है। लोगों से सम्पर्क, पत्र-व्यवहार और ग्राहकों की खोज, इन बातों के लिए काफी काम प्रतिदिन होना चाहिए। पत्र-व्यवहार में शिथिलता अपनी बहुत बड़ी कमी है। हिज होलीनेस को ढाई महीने हो गए पत्र नहीं लिखा गया और न आगरे में उनसे भेंट ही की गई। आज उनको पत्र ड्राफ्ट किया।

२९-७-४१

त्योहार का दिन है—गुड़ियों का त्योहार। स्कूलों में छुट्टी है। घरों में खानों-पकवानों की धूम है, इसलिए आज फेरी से भी छुट्टी मनाई गई।

३०-७-४१

गवर्नमेंट स्कूल ही अब तक अपना बिक्री का बाजार बना हुआ है। फुटकर थोड़ी-थोड़ी किताबें बिकती हैं। छठे दर्जे के मास्टर तिवारी जी ने कल अपने दर्जे के लगभग सभी लड़कों को ट्रांसलेशन की किताबें दिलवा दी हैं। ज्यादातर लड़कों से दाम आज भी वसूल नहीं हुए।

डाक्टर छैलविहारी की एक पेटेंट दवा और लाला गनेशप्रसाद के कोड़ों के विज्ञापन 'नोक-झोक' के लिए लेने की बातचीत की।

३१-७-४१

उसी गवर्नमेंट स्कूल में थोड़ी-सी बिक्री हुई। लाला गजोधर प्रसाद ने अछूत-लाइब्रेरी के लिए ली हुई पुस्तकों में से दो-तिहाई एक बार वापस कर दी थीं और शेष आज लौटा दीं। वे इन पुस्तकों को रखना चाहते थे। बोले—'जब इलाहाबाद से ग्रांट का रुपया मिल जायगा, तो दाम दे देंगे।' दाम मिलने की उन्हे जल्दी ही आशा थी। यह आशा कई बार पूरी होते-होते रह गई थी। कारण, कई बार उनकी इलाहाबाद जाने की तैयारी हो-होकर रुक गई थी। 'दो-डेढ़ महीने में जब आप फिर फतेहपुर आने को कहते हैं, तब इनके दाम ले लीजिएगा'—उन्होंने प्रस्ताव किया; लेकिन मैंने सभी किताबें वापस ले लेना ही ठीक समझा। वास्तव में किताबों का खरीदना उनके लिए असुविधाजनक था, और वह उनकी कोई खास रुचि की बात न थी। पुस्तकों की खरीद बेंच के लिए इतने दिन उनसे जो मिलना-बोलना पड़ा, उसमे कुछ उनकी ग़लती थी और कुछ मेरी। उनमें अगर अपनी-पराई सुविधा की क़दर और इसके लिए स्पष्ट और कुशल व्यवहार का ढंग हो, तो वे अपने कुल में अपनी समुन्नत स्थिति को सार्थक और विशेष सुखद बना सकते हैं और आगे बढ़ने का अपना रास्ता साफ कर सकते हैं। लोक-व्यवहार के ज्ञान से कोरापन हम हिन्दुओ की भारी दुर्बलता क्या भीषण अभिशाप है, जिसके कारण हम कुछ योग्यताएँ रखते हुए भी लोकप्रिय और समाजसेवी नहीं बन पाते। आगे अवसर मिला, तो मैं इन होनहार भाई को मित्र बनाकर इनकी अगली उन्नति की राह देखूँगा।

ऐंग्लो हाईस्कूल की आज एक फेरी हुई। क्लर्क बाबू ने मेरी जाति का—वे भी मेरे सजातीय हैं—नाम लेकर कहा—'इस जातवालो से व्यापार हो ही नहीं सकता, इन्हे तो कुर्सी पर बैठकर क्लर्की करनी आती है।'

उस दिन के आए आप अब आज आए हैं, ऐसे कहीं व्यापार होता है !' क्लर्क बाबू का आक्षेप मेरी जातिवालों पर न सही, तो कम से कम मुझपर अवश्य बिल्कुल ठीक उतरता था, और सचमुच हमारी जाति का हाल भी कुछ ऐसा ही है। मैं उनकी आत्मीयता और आक्षेप दोनों ही का कायल हो गया और अपनी ग़लती स्वीकार कर ली। वास्तव में ज्यादा मुस्तैदी से काम कर सकता था, और यहाँ तो सरासर मेरी ढील और लापरवाही थी।

क्लर्क बाबू के स्नेह-भाव ने, जिसमें मेरे इस व्यवसाय के प्रति कुछ सम्मान का भी पुट था, मुझे प्रभावित किया। कुछ मित्र अध्यापकों से बातचीत करके मैं वापस आया। क्लर्क बाबू उस समय अत्यन्त 'बिज़ी' थे।

तीसरे पहर कलक्ट्री में लाला गनेशप्रशाद के सुपुत्र की कोड़े और पुस्तकों की दूकान पर हाज़िरी दी। अखबार में विज्ञापन देने का उन्हें साहस नहीं हुआ। 'हमारा तो देखिए, बहुत-बहुत तरह से विज्ञा-पन होता रहता है। दूर-दूर विलायत तक में हमारे कोड़े मशहूर हैं।'— उन्होंने कहा। मैंने उनकी बात मान ली। हर कोई, जिसकी आम-दनी कम हो, विज्ञापन के लिए पैसे खर्चने का साहस कैसे कर सकता है ? उन्होंने मेरे पास की पुस्तकों को देखने के लिए आने का वादा किया।

शाम को मिस्टर भगवती सहाय श्रीवास्तव वकील के घर मेरी और लीला की दावत थी, जो सुरुचिपूर्ण और मनोरंजक रही।

हिज़ होलीनेस को आज पत्र लिखा। एक महीने की छुट्टी की अर्ज़ी और भेज दी।

१-८-४१

गवर्नमेंट और एँग्लो-स्कूलों की फेरी लगी। कुछ पैसे वसूल हुए। लड़कों को किताबें उधार देने से वसूली में झंझट पड़ती है, आगे एहति-यात रखा जायगा; लेकिन अच्छी बिक्री के लिए यह अधिक उपयोगी

है कि लड़कों को, ठीक प्रबन्ध करके, एक दिन के लिए किताबें उधार दे दी जायँ।

२-८-४१

गवर्नमेंट स्कूल से दाम लगभग वसूल हो गए हैं। एँग्लो-स्कूल में बहुत थोड़ा-सा काम हुआ। वास्तव में वहाँ काम किया ही नहीं गया। अब भी वहाँ से जो आर्डर मिल सकते हैं, उन्हे छोड़ दिया है।

मिस्टर बद्रीप्रसाद कक्कड़, आनरेरी मजिस्ट्रेट और मैनेजर एँग्लो-स्कूल की शक्ल एँग्लो-स्कूल में दिखाई पड़ जाती है। क़रीब एक हफ़्ता पहले जब मैं पहली बार वहाँ गया था, तो उन्हें आफिस में बैठे हुए देखा था। मैं उन्हे जानता नहीं था। आफिस में जाकर मैंने पूछा कि फलाँ और फलाँ मास्टर इस वक्त किस दर्जे में होंगे। मुझे बतला दिया गया। मैं उन लोगों के लिए चल दिया। मिस्टर कक्कड़ ने पुकारकर अँगरेजी में कहा—'आप क्लास में जाकर उनका हर्ज क्यों कीजिएगा?' बात उन्होने बिलकुल उचित कही थी, मैंने कुछ देर बाद यह अनुभव किया। मेरे हाथ में एक कुछ बेचनेवाले-का-सा अटैचीकेस जो था! उस समय तो एकदम मैंने उनसे यही कहा—'मुझे उनसे सिर्फ अपनी किताबें वापस लेनी हैं।' न जाने क्यों मैंने अपने इस उत्तर को दोहराया। निश्चय ही मैं उनसे कुछ डर गया था, और एक मामूली बुकसेलर का एक स्कूल-मैनेजर से डर जाना स्वाभाविक ही था। लेकिन मिस्टर कक्कड़ भी अपनी बात को जरा खूबसूरती से कह सकते थे। कैसे? जैसे उनकी जगह पर होने पर मैं करता। मसलन मै कहता (अगर मेरा भी चेहरा उनकी तरह बेतकल्लुफ और हँसोड़-सा होता)—'आप उनसे (यानी मास्टरों से) मिलना चाहते हैं और मैं चाहता हूँ कि आपसे कुछ बातचीत करूँ। क्या उनसे मिलने के पहले आप दो मिनट मुझे नहीं दे सकते?' और जब मिस्टर कक्कड़ बुकसेलर, या जो भी महाशय वह बुकसेलर होते, मेरे पास आकर बैठ जाते, तो उनका काम जान लेने पर, अगर उनका कोई लम्बा काम होता,

मैं उन्हें ढंग से बतला देता कि वे लोग तो अभी क्लास में पढ़ा रहे होंगे और यह कि उन्हे (यानी बुकसेलर साहब को) ऐसी गर्मी में थोड़ी देर पंखे की हवा के नीचे बैठकर कम से कम घंटा खतम होने तक इन्तज़ार करना चाहिए। मिस्टर कक्कड़ और हम सभी अधिक लोकप्रिय हो जायँ, अगर दूसरे अपरिचितों से बात करते समय ज़रा 'डरते रहा' करें कि कहीं वह कोई बड़ा आदमी न हो, और जो देखने में बड़ा आदमी न जान पड़े, उसके लिए अपने कुछ 'सगे' होने का सन्देह मन में रखा करें।

उस दिन से जब-जब मैं मिस्टर कक्कड़ के करीब हुआ, उनका सामना बचाता ही रहा कि कहीं डाँट न पड़ जाय। आज स्कूल में उस समय मिठाई बँट रही थी और मैं मैदान में पड़ी हुई एक कुर्सी पर बैठा श्री इलाचन्द्र जोशी का 'दैनिक-जीवन और मनोविज्ञान' पढ़ रहा था। यह मेरी एक मनोवैज्ञानिक घटना ही थी कि उन्हे अपने पास तक आया हुआ जानकर भी अनजान दीखना चाहता था और अपनी किताब में ठाट के साथ व्यस्त था। संयोगवश स्कूल का घंटा मेरे पास ही टँगा हुआ था और उन्हे ख़ुद ही घटा बजाने की सूझ गई थी। उन्होंने घंटा बजाना शुरू किया और मजबूरन मुझे कुर्सी से खड़े होकर उनकी इस कार्यवाही की एक मुस्कराहट द्वारा प्रशंसा करनी पड़ी, जिसे उन्होंने जैसा चाहिए, वैसे ही स्वीकार किया। 'आपके लिए तो मिठाई लाओ'—उन्होंने किसी से कहा। मिठाई का दोना मेरे हाथ में आ गया। मेरे पास की आराम कुर्सी पर वह बैठ गए, अपनी कुर्सी पर मैं बैठा। 'यह मिठाई आज किस ख़ुशी में बँटी है, मैनेजर साहब?'—मैंने पूछा। 'आपके आने की ख़ुशी में!'— उन्होंने जवाब दिया, और वह मुझे काफी पसन्द आया। उन्हे पता नहीं, लेकिन कभी ऐसा सचमुच हो कि मेरे आने की ख़ुशी में किसी स्कूल में मिठाई बँटे तो यह कोई आश्चर्य की बात न होगी। मिस्टर कक्कड़ ने मेरे परिचय की कुछ बातें पूछीं; लेकिन मुझे किसी विवरण में जाना ठीक

नहीं जान पड़ा। मिठाई खा चुकने पर मैं पानी पीने के लिए उठ गया।

१२-८-४१

पिछले ९ दिन डायरी नहीं लिखी—कुछ फुरसत नहीं मिली, कुछ तबीयत नहीं की और अक्सर लिखने लायक कोई बात नहीं हुई। ३ को फतेहपुर से कानपुर आना हुआ। जुही में इंडियन आर्मी-बुकडिपो और आर्मी-प्रेस के मालिक श्री माधोराम के घर डेरा डाला। माधोराम जी कुछ वर्षों से मेरे सम्बन्धी और उस तरह से मेरे बड़े भाई होते हैं। हम-उम्रों में उनकी गिनती मैं कर सकता हूँ। उनके पास धन है, सम्पत्ति है; लेकिन उसका दुरुपयोग या अनुचित गर्व नहीं, यह प्रशंसनीय है। साधारणतया जितनी चाहिए, उतनी उदारता भी है। जीवन का एक लक्ष्य—मैं समझता हूँ, बहुत ऊँचा और बहुत पक्का लक्ष्य—भी है और उसकी ओर से उदासीनता भी है। तो फिर उनका वह लक्ष्य उनके पारिवारिक या सांस्कारिक सौभाग्य से ही निर्धारित हो गया है। 'आपके जीवन का सुख क्या है? धन? मान? इनमें उन्नति?'—मैंने एक बार पूछा। उन्होंने बताया, उनकी इनमें से किसी बात में ख़ास रुचि नहीं है और न उनके विशेष सुख का ही कहीं कोई विषय है। मैंने देखा, वे उन लोगों में से हैं, जो अपनी परिस्थिति-विशेष के आदी हुआ करते हैं, मानो वे कहीं से चलकर उस स्थिति-विशेष को नहीं पहुँचे हैं। भाई माधोरामजी मेरे कुछ पहले से ही परिचित हैं। मैं जानता हूँ कि उनपर अधिकार और उत्तरदायित्व दोनों का भार कुछ एकदम ही आया है। इसे देखते हुए उन्हें कार्य कुशल और गम्भीर स्वभाव के व्यक्तियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। उनके जीवन का सुख किसी विशेष बात में उन्हें नहीं दीख पड़ता। इसका मतलब सम्भवतः यही है कि अपने समकक्ष धरातल की छोटी-मोटी ऊँचाइयाँ उन्हें आकृष्ट नहीं कर पातीं और अपने जीवन की ऊँची आदर्श-शिखा तक उनकी दृष्टि नहीं पहुँचती, उस ओर को उसका सीधा रुख भी नहीं होता।

यह ऐसा है, जरा कम पैनी नजर से देखने पर। उनके स्नेह और आदर-भाव का मुझपर यथोचित अधिकार भी है।

यह मै लिखने लगा, सो तो ठीक है; पर पहले मुझे यहाँ यह भी लिख देना चाहिए था कि फतेहपुर में करीब ६५ रुपये की बिक्री हुई, जिस में से वहाँ का खर्च काटकर, करीब ६ रुपये की बचत लेकर कानपुर के लिए प्रस्थान किया गया। ८ को लखनऊ की सैर हुई। ९ की सुबह लखीमपुर पहुँचे और दस की रात वापस कानपुर आए। लखनऊ में गङ्गा-पुस्तक-माला के अध्यक्ष श्री दुलारेलाल भार्गव से मिलना था, उनके यहाँ से काम लेने के सम्बन्ध मे उनसे भेट की। श्रीहर्ष जी के यहाँ ठहरना था, थोड़ी देर ठहरे। लखीमपुर में लीला को अपने बुआ-फूफा से मिलना था, अत. दो-डेढ़ दिन उनके यहाँ भी मेहमान रहे।

श्रीहर्ष जी की लखनऊ में जूतो और चमड़े के सामान की दूकान है। आगरे में उन्होंने मुझे निमन्त्रण दिया था कि लखनऊ आऊँ, तो उनके यहाँ ठहरू। मैं कुछ घटों का ही समय लेकर लखनऊ गया था। उनकी दूकान पर अपना असबाब रखा। कुछ लोगों में एक बात अच्छी हुआ करती है, वे संकोच में आकर अपने-आप को किसी असुविधा में नहीं डालते। जब मैंने श्रीहर्ष जी से पूछा कि आपका मकान कहाँ है, तो उन्होने मोहल्ले का नाम लेकर बताया कि वह जरा दूर है। उन्होने हमसे दूकान पर ही आराम करने और वहीं भोजन मँगा देने की बात कही। यह तो है ही कि हमें उतनी देर के लिए घर ले जाना और वहाँ हमारे खाने-पीने का प्रबन्ध करना, कुछ असुविधाजनक ही था। श्रीहर्ष जी सज्जन-स्वभाव और अच्छे बिज़िनेसमैन हैं और लखनऊ-जैसे शहर में रहना जानते हैं। उनकी बाहरी शुष्कता में मुझे आन्तरिक आत्मीयता की महक भी मिली। दोपहर को ही हम (मै और लीला) दुलारेलाल जी के घर पहुँचे। सोचा, खाना लौटकर खायेंगे। वहाँ खाने के लिए पूछा गया तो—संकोच की कृपा—कह दिया, खाना खा आए हैं। इस तकल्लुफ़ में

शाम तक, जब तक उनके घर रहना हुआ, उपवास ही करना पड़ा—मुझे पूरा और लीला को आधा, उसने सुबह नाश्ता कर लिया था।

भार्गव जी से भेंट हुई, परिचय हुआ और मैंने अपना मतलब बतला दिया। मुझे आवश्यक काग़ज़ देने के लिए उन्हें अपने किसी कार्यकर्ता की प्रतीक्षा करनी थी। दूसरी बातें होने लगीं। भीतर के कमरे में श्रीमती सावित्री देवी भार्गव, भार्गव जी की नव-वधू आकर लीला से बातचीत करने लगी थीं। लीला के प्रति उनका आकर्षण स्वाभाविक स्वजातीय का-सा था और उसमें आज के से बनावटी दम्भ का अभाव था। मैं भीतर उनके पास जा पहुँचा और प्रणाम करके उनसे पूछा, 'आप ही सावित्री देवी भार्गव हैं?' 'जी हाँ' उन्होंने उत्तर दिया और इस 'जी हाँ' में वह सारी सरलता और सुन्दरता थी जो मानव-प्रिया मानवी का स्वाभाविक और प्राकृतिक गुण हुआ करती है। सावित्री जी 'सुधा' की सम्पादिका और सम्भवतः ग्रेजुएट हैं। आजकल की लेखिकाओं और सम्पादिकाओं को अपनी रूपोचित सरलता और सुन्दरता के ऊपर जो चमकीली-दमकीली-सी पोशाक प्रायः ओढ़-पहननी पड़ती है—और वह प्रदर्शन अधिकांश में उनके रूप और हृदय के सौन्दर्य को छिपाने-घटानेवाला ही होता है—उसे या तो, सावित्री जी ने अपने व्यावहारिक जीवन में पहना नहीं है और अगर पहना है तो केवल अपने चित्रों में; जिनका चित्रकार वह स्वयं नहीं कोई दूसरा ही हो सकता है और जिनके देखनेवाले उनके कोई पड़ोसी या प्रियजन नहीं कोई परोक्षवासी पाठक ही हो सकते हैं।

सावित्री जी से मेरी थोड़ी सी—यही परिचय-प्राप्ति की जैसी बातें हुईं। भार्गव जी भी कुछ देर हम लोगों के बीच रहे, और जब भार्गव जी और मैं बाहर के बरामदे में आ बैठे तो, मैंने देखा, सावित्री जी ने कमरे के किवाड़ बन्द कर लिए और पंखे के नीचे, तख्त पर, बड़े तकिये के सहारे वह और लीला दोनों बहनें-बहनें-सी खूब सोईं और चार बजे तक सोती रहीं।

जब हम चारो कमरे में बैठे थे और दयालबाग़ की बात छिड़ गई थी तो भार्गव जी ने मेरे पूछने पर बतलाया था कि दयालबाग में सिर्फ साहबजी महाराज से ही उनका परिचय था। वे भी कविता करते थे और यह भी कवि हैं। कविता के ही विषय मे दोनों की घण्टो बात-चीत होती थी और लोग आश्चर्य करते थे कि इन्हें इतना समय साहब जी महाराज कैसे दे देते हैं। भार्गवजी के इस कथन में मानव-हृदय की वह मूल प्रवृत्ति—जिसके अनुसार मनुष्य अधिक से अधिक महत्त्वशाली (Important) दीखना (और बनना भी) चाहता है—जरा अनियंत्रित रूप में दीख पड़ती है। यह मनुष्य की दुर्बलता का सूचक है ; फिर भी दोष नहीं, गुण ही है।

मैंने डेल कारनेगी की वह-सी पुस्तक पढ़ी है, इस बात से भार्गवजी को बड़ी प्रसन्नता हुई और उनकी नज़रों में मेरी क़ीमत भी कुछ बढ़ गई। व्यवसाय-क्षेत्र में हरेक को वह पुस्तक पढ़नी चाहिए, यह उनकी राय थी और मैं इससे सहमत था।

भार्गवजी के एक सहकारी से कुछ ग़लती हो गई थी और उसने कुछ अनुपयुक्त ढङ्ग से कोई बात कही थी। उस पर उनका क्रोध अगर कोई नाट्यकार देखता तो उसे अभिनय के लिए एक चित्र मिल जाता। क्रोध उन्हें कभी भले ही आता हो लेकिन, मैंने देखा, उन्हें क्रोध करना नहीं आता। "आपमें काम करने का ढङ्ग और योग्यता आवे तो कहाँ से आवे ? आपने लोक-व्यवहार (डेलकारनेगी की पुस्तक (How to Win Friends and Influence People का हिन्दी अनुवाद) तो पढ़ा ही नहीं" उन्होंने दूसरे ही क्षण नरम होकर उससे कहा। 'लोक व्यवहार' उनके इतनी मनबसी चीज थी।

भार्गवजी उन व्यक्तियों में हैं जो साहित्यिक व्यापार-क्षेत्र में स्वयं अपने पैरों पर खड़े हुए हैं। उनमें अवश्य कहीं कोई प्रतिभा है जिसके द्वारा उन्होंने अपने व्यवसाय का सङ्गठन और सञ्चालन किया है। उनका थोड़ा-सा और अध्ययन मुझे अभी करना है।

८ को रात की गाड़ी से हम लखीमपुर के लिए रवाना हुए और ९ की सुबह वहाँ पहुँच गए। वह लीला के फूफाजी का घर था। जैसी चाहिए, वहाँ हमारी ख़ातिर हुई। फूफाजी का कत्थे का कारबार है। धनी व्यक्ति हैं, ऊँची कोठी है। सम्बन्ध का नाम ही नए और स्वल्प-परिचित प्रियजन के प्रति स्नेह-सत्कार का भाव उत्पन्न कर देता है, यह मैंने वहाँ स्पष्ट देखा। मिस्टर हरनामसुन्दर फूफाजी के भतीजे हैं। वह ही अब फूफाजी के कारबार को सम्हालने लगे हैं। अभी लड़के ही हैं; लेकिन समझ-बूझ अच्छी है। रिश्तेदारों में कोई रुचि नहीं रखते, इसलिए उनसे ज़रा दूर ही दूर रहते हैं; लेकिन संयोग की बात, मुझसे बातचीत हुई, तबीयत मिल गई और दोस्ती हो गई। भारतीय नवयुवकों में हमजोली की मित्रता की अभी बहुत कमी है, और मिस्टर हरनाम में वह बात देखकर मुझे प्रसन्नता हुई।

१० को लखीमपुर से वापस लौटते हुए लखनऊ में भार्गवजी के 'सुधा'-कार्यालय से 'सुधा', गङ्गा-पुस्तकमाला, रामायण, 'बालविनोद' के प्रचार का काम लिया। भार्गवजी से मैंने उनकी शर्तों में जो थोड़ी-सी रियायत माँगी, उसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। १० की रात हम वापस कानपुर आ गए।

१४-८-४१

११, १२ और १३ को कानपुर में कुछ काम किया। शहर में थोड़ा-सा भी नियमपूर्वक काम कर लेने पर डेढ़-दो रुपए की बचत रोज़ हो सकती है। ११ तारीख़ को श्रीकृष्ण झा से भेंट हुई। चूँकि यह नाम अपने-आप काफी आदरयुक्त है, इसलिए मुझे सुविधा है कि इसमें आगे-पीछे कुछ जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। श्रीकृष्ण से लगभग सात साल पहले मेरा परिचय हुआ था। उनका अंकन मेरे मन पर गहरा पड़ा था और, कुछ अस्वाभाविक नहीं, उसके थोड़े समय बाद से ही मैं उन्हें क़रीब-क़रीब भूल गया था।

मैं बुकसेलर हूँ, मुझे गाहकों की जरूरत रहती है। सोचा, मालूम भी हुआ, कि श्रीकृष्ण झा कुछ किताबें खरीद लेंगे। उनके घर पहुँचा। बड़े आदर-उत्साह से मिले। मैं उतनी देर के लिए बुकसेलर न रह सका। उनके पास जैसे मेरा एक पहले का चित्र सुरक्षित था और वह एक प्रिय-हृदय मनुष्य का-सा चित्र था, फिर मैं उनके सामने एक बुकसेलर-मात्र कैसे होता ? 'आपने यह (बुकसेलरी का) काम किस मतलब से अपनाया है ?'—उन्होंने पूछा, और मैंने उन्हें बतलाया कि रोटी कमाने के लिए। 'नहीं, आप इस तरह भ्रमण करके लोगों से मिलकर मानव हृदय का अध्ययन करना चाहते हैं।'—उन्होंने प्रतिवाद-सा किया और मैंने मान लिया। निःसन्देह यह भी मेरे इस रोजगार का कारण था—वह गौण और यह मुख्य। उन्हें मेरी प्रवृत्ति का पता था।

श्रीकृष्ण झा अब वकील हैं।* मन में प्रश्न उठ रहा था, आखिर मैंने पूछा ही—'आपका वकालत की लाइन में आने का क्या पहले से हा इरादा था ?' मेरे विचार के अनुसार उन्हें दार्शनिक, कवि या एक प्रमुख लोक-सेवक होना चाहिए था। 'नहीं, इरादा कुछ नहीं, मैं तो जो-जो भी अब कर रहा हूँ, ऐसा जान पड़ता है, दूसरों के लिए कर रहा हूँ, किसी दूसरे की इच्छा से। मनुष्य की अपनी इच्छा पूरी ही कहाँ तक होती है !' उनका उत्तर था। बात ठीक भी थी। सममुच एक गम्भीर और अपने भीतर गहरी नजर डालनेवाला व्यक्ति अपने-आप को विवश और अपनी इच्छा-पूर्ति को पराधीन पाता है, क्योंकि वह कुछ अज्ञात-अस्पष्ट शक्तियों को—उन्हें अपनी ही आत्म-शक्ति कहिए या परमात्म शक्ति—अपने जीवन में जरा खुलकर काम करते देखता है। हाँ, एक उच्छृंखल अदूरदर्शी अवश्य किसी धुन को पकड़कर कुछ दूर तक अपनी इच्छा-विशेष की पूर्ति के लिए संसार में काम करनेवाली शक्तियो को अपने साथ खींच ले जाता है, लेकिन इसमें उसका कोई बड़ा और व्यापक हित नहीं होता।

* और पुस्तक छपते समय वह देहरादून में इण्डियन मिलिटरी एकाडेमी के मेजर एस० के० झा हैं।—लेखक।

झा जी से मेरा वह प्रश्न लगभग अनावश्यक ही था। मनुष्य जब अपने-आप को मनुष्य समझने लगता है, तो फिर वह जीवन-भर मनुष्य ही रहता है, चाहे वह वकालत करे, चाहे बुकसेलरी, चाहे और ही कुछ। उस समय उनकी मेरे प्रति आत्मीयता की भावना ने मेरे हृदय को अच्छी तरह छू लिया। उनकी इतने पिछले दिनों की जीवन-कथा मैंने सुनी। काफी विपत्तियों और प्रियजनों के चिर-विछोह का दुःख उन्हें सहना पड़ा, मनुष्य की स्वार्थ-परता के व्यावहारिक अनुभव उन्हे हुए। अपने शब्दों में उन्होंने बतलाया कि मनुष्य-मात्र से अब उन्हे घृणा है, अध्यात्मवाद में अब उनकी अरुचि है, और मैंने देखा, आध्यात्मिक यात्रा में उनकी नाव ज़रा और आगे बढ़ आई है। यह उनकी भावुकता पर इस पथ के मङ्गलमय तूफ़ानों के आक्रमण का समय है। भावुकता को नष्ट होना ही चाहिए। वह अच्छी कम और बुरी अधिक हुआ करती है। भावुकता से प्रारम्भ एक सुन्दर प्रारम्भ है, उसपर आघात-प्रतिघात एक उपयोगी मध्य है और भावुकता की नींव पर अन्तःअनुभूति का निर्माण एक कक्षा की मङ्गलमयी पूर्णता है। झा जी इस कक्षा की दूसरी मंज़िल में आ गये हैं। मैं पहली में हूँ, लेकिन मेरी जानकारी सम्भवतः उनसे अधिक है, और मैं उस दूसरी मंज़िल में पहुँचने पर उसकी यात्रा अधिक स्थिरता और साहस के साथ करने की तैयारी कर रहा हूँ।

श्रीकृष्ण झा उन व्यक्तियों में हैं, जिनके चित्र मेरे लिए सग्रहणीय हैं। वह कहते हैं, उन्हे मनुष्य-मात्र से घृणा हो गई है; लेकिन वास्तव में उन्हे अब मनुष्य से कुछ प्रेम-सा हो चला है, क्योंकि उन्होंने अबसे उसे—भले ही पहले उसकी दुर्बलताओ और अबोधताओं को—देखना-समझना प्रारम्भ कर दिया है।

उन्होंने कुछ पुस्तकें भी ख़रीदीं और मुझे एक प्रत्याशित ग्राहक की ओर से निराश नहीं होना पड़ा।

१९-८-४१

१५ की दोपहर कानपुर से चलकर हमीरपुर पहुँचे। वहाँ अपने

दोनों बड़े भाई हैं। जिले का सदर हमीरपुर एक छोटा-सा क़सबा है। काम वहाँ बहुत कम हुआ। छः रुपए सवा सात आने की किताबें बिकीं और ढाई रुपए का 'बालविनोद' का एक ग्राहक बना। श्री रघु-राजशरण शर्मा हिन्दी के एम० ए० और बी० टी० हैं। गवर्नमेंट स्कूल में अध्यापक हैं। आज के नये जगे हुए सामाजिक युग में नवयुवकों में जो पारस्परिक स्नेह-सहयोग का भाव होना चाहिए, वह उनमें है। साहित्य-प्रेमी और उसके पारखी भी हैं। मेरी उनकी तब से मित्रता है। श्री हरदेव प्रधान, इंचार्ज डिस्ट्रिक्ट आफ़िस, कुछ पुस्तकें ले लेंगे; उनकी श्रीमती कमला देवी प्रधान को साहित्य में अच्छी रुचि है, वह कुछ लिखती भी रहती हैं, मुझे अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करने पर हमीरपुर में मालूम हुआ। मैं उनकी कोठी पर पहुँचा। श्रीयुत प्रधानजी को एक बुकसेलर के आने की खबर भेजवा दी गई। मुझे बिठाया गया। कुछ देर बाद प्रधानजी के दर्शन हुए। 'मैं बुकसेलर हूँ और कुछ मासिक पत्रों की एजेंसी भी मेरे पास है।'—मैंने उन्हें बतलाया। वे भीतर गये, सम्भवतः श्रीमती प्रधान से पूछने और लौटकर मुझे बतलाया कि हिन्दी-पत्र बहुत आते हैं उनके पास, और की जरूरत नहीं है। अच्छा हो, यदि साहित्यिक व्यसन रखनेवाले किसी नई अच्छी चीज के सामने पड़ जाने की आशा में बुकसेलरों के बक्स एक बार देख अवश्य लिया करें। इस तरह कभी-कभी कोई बड़े काम की पुस्तक भी उन्हें मिल सकती है, बुकसेलरों का प्रोत्साहन भी हो सकता है और अगर कुछ खरीदा न जाय, तो एक धन्यवाद द्वारा समुचित रूप में उनका वह पारिश्रमिक भी अदा किया जा सकता है।

२१-८-४१

आज से कानपुर में फेरी की डायरी चलती है। क़दीमी यूनानी दवाखाना के मालिक शंकरलालजी की एक अत्तार की-सी दूकान है। दवा लेने मैं एक बार पहले उनके पास गया था। उनकी दवा कारगर

हुई थी। शिक्षाप्रेमी सज्जन हैं। पुस्तकें देखने को माँगी थीं, आज दिखाईं। फिलहाल तीन पुस्तकें उन्होने लीं।

फेरी आगे चली। हर कहीं न आवाज देने की हिम्मत पड़ती है और न उतनी 'बेहयाई' बनती है; लेकिन इन आवाजों का 'कोरम' तो पूरा करना था। साथ में अब किताबों का बक्स लिये हुए मजदूर नहीं, बल्कि हाथ मे एक 'अटैची ही थी, जिसमें ग्राहक बनाने के लिए कुछ अखबारों के नमूने थे। वह क्या थी? लाला अनन्तराम भरतिया की ग्वालटोली मे कोठी ही तो थी। भीतर पहुँचा। भीतर नौकर-चाकर जैसे लोग ही थे और उन्हीं की गृहस्थी। 'हियाँ नहीं नाँय लाला अनन्तराम भरतिया, जाव हियन ते।'—एक ने मेरे प्रश्न के उत्तर मे कहा। मै मालिक के कम ईमानदार नौकर की तरह अपना कर्तव्य-सा भुगताकर बाहर चला आया।

साहस नम्बर २, और मै सेठ रामसनेही वकील की कोठी 'सेवासदन' के भीतर था। नौकर ने भीतर इत्तिला कर दी। 'तुम्हार नाँव का है?'—नौकर ने बाहर आकर पूछा। 'बुकसेलर।'—मैंने कहलवाया। एक नौ-उम्र बाबूजी बाहर के बरामदे मे आये। 'आइए।'—मुझे बाहर खड़ा देखकर उन्होने बुलाया। सम्भवत: यह बाबूजी उपर्युक्त वकील साहब नहीं, उनके कोई प्रियजन थे। 'मै आगरे से आया हूँ, एक बुकसेलर हूँ। कुछ मासिक पत्रों की मेरे पास एजेंसी भी है, आप देखें।'—आगे बढ़ते हुए मैंने कहा, और पीछे फिरकर भीतर वापस जाते हुए वह एक छोटा-सा उत्तर देते गए—'नहीं।' शायद वह नौकर उन्हे मेरा बतलाया हुआ नाम नहीं बतला सका था। लल्लू बाबू (यही नाम सम्भवत: मैंने उनका सुन पाया था) देखने में मुझे बहुत अच्छे लगे थे और मैं उनसे बात करके कुछ प्रसन्न होना चाहता था। न जाने क्यो, इन्सान इन्सान से बात तक नहीं करना चाहता। यह दोनों के लिए दुर्भाग्य की बात है। लेकिन किसके लिए अधिक—पहले के या दूसरे के? जवाब साफ ही जान पड़ता है।

मिस्टर जगन्नाथप्रसाद निगम मेरे कुछ पूर्वपरिचित हैं। जब 'बालविनोद' उनके सामने पेश किया गया, तो उन्होंने बतलाया कि अव्वल तो उनका लड़का उर्दू पढ़ता है, दूसरे अख़बार पढ़ने को पास की लाइब्रेरी में मिल जाते हैं और तीसरे यह कि वह खर्च नहीं कर सकते। मिस्टर निगम का यह उत्तर मुझे बहुत उचित और सुलझा हुआ जान पड़ा। कम ही जवाब देनेवाले इतना सुव्यवहारपूर्ण उत्तर देते हैं।

अपनी छोटी-सी दूकान पर बैठे हुए वह कोई पैसेवाले सेठजी जँचते थे। 'इनसे कहूँ', मैंने सोचा ; लेकिन साहस न हुआ। मैं आगे बढ़ गया। 'लौटो, इनसे जरूर कहो', मन में बात उठी और लौट पड़ा। 'बड़ी झिझक की बात है, इतने लोग देख रहे हैं।' मैं दूकान को छोड़ता आगे बढ़ गया। फिर लौटा और हिम्मत करके सवाल कर ही दिया। 'कुछ न चाहिए।' जवाबभी मिल गया। मुझे एक बड़ा व्यवसायी बनने में कोई एतराज़ नहीं है, और इस बात को देखते हुए यह कितना मनोरंजक चित्र है !

एक साहस और। लाला कृष्णकुमार अमरचन्द की दूकान। यह जसवन्त स्ट्राबोर्ड मिल्स लिमिटेड मेरठ की एजेंसी है। 'हिन्दी के मासिक पत्रों की मेरे पास एजेंसी है, आप कुछ पत्र देखना पसद करेंगे ?'—मैंने कहा (यह वाक्य बहुत ढीला है, आयन्दा ज़रा कोई ज़ोरदार वाक्य पहले कहा करूँगा)। 'नहीं, हम नहीं देखते हिन्दी।'—एक सज्जन ने उत्तर दे दिया। मेरा काम पूरा हो चुका था और अपने नियम के अनुसार मैं चलने को था। 'थोड़ी सी बेगार लाओ और कर लूँ', मैंने सोचा और कहा—'और कोई साहब यहाँ हिन्दी के पत्र देखना पसंद करेंगे ?' 'ये हिन्दी की चीजें देखते हैं।'—उन्होंने एक दूसरे सज्जन की ओर इशारा करके कहा। पत्रिकाएँ उन्होंने देखीं। एक और महाशय इसमें शामिल हुए। पसन्द की चीजें निकलीं। कल किताबें भी देखी जायँगी और किताबों तथा अखबारों का काम

कुछ हो जायगा।' विज्ञापन देने की भी बात मैंने कही। 'ज़रूर, विज्ञापन हम ज़रूर देंगे इनमें। आपके अख़बार बहुत अच्छे हैं।'—उन्होंने कहा। ऐसे खुदराजी गाहक भी कभी-कभी यों ही बेगार की तौर पर पूछ लेने पर भी मिल जाते हैं। कोशिश ज़रूर करनी चाहिए और जहाँ तक हो सके, मन से और पूरी-पूरी। ऐसी घटनाओं से यह निश्चय पक्का होने लगता है।

मिस्टर टी० वाई० (अगर मैं भूलता नहीं हूँ) टंडन, लाइब्रेरियन श्री गयाप्रसाद-पुस्तकालय, से भेंट की। यह एक सुयोग्य और सुविज्ञ लाइब्रेरियन जान पड़े। 'पूजा' पुस्तक मैंने उन्हें दिखाई। 'पूजा चीज़ अच्छी है ; लेकिन गेट-अप और छपाई ख़राब है। किताब अच्छी बन सकती थी।'—उन्होने कहा। शंकर-सदन का सूचीपत्र उन्होंने रख लिया।

बाबू शिवप्रसाद सक्सेना मेरे पूर्वपरिचित हैं। आपसी बातें समाप्त होने पर मैंने कहा—'अब मैं चलूँगा और चलने के पहले आपको एक चीज़ दिखाऊँगा। यही एक चीज़ मेरे पास प्रम (उनके बच्चे) के काम की है। 'बालविनोद' की कापी देते हुए मैंने उनसे कहा। अपना यह ढग मुझे पसन्द आया। भाई शिवप्रसादजी लगनवाले और सेवाशील व्यक्ति हैं और मेरे प्रति पहले से ही कुछ आत्मीयता का भाव रखते हैं।

२२-८-४१

कलवालो मेसर्स कृष्णकुमार अमरचन्द की दूकान'! किताबें ले जाकर आज दिखाईं। वहाँ हिन्दी-पुस्तकों के ग्राहक रामेश्वरजी थे। किताबें देखीं, कुछ छाँटीं, लेकिन 'इतने दाम ! इनके दाम बहुत ज़्यादा-ज़्यादा हैं, हम नहीं ले सकेंगे।'—उन्होने कहा। उन्हें पुस्तकों का शौक़ था, लेने की उत्सुकता भी थी ; लेकिन उसके लिए फ़िज़ूलख़र्ची उन्हें तकलीफदेह थी। दो-एक छोटी-छोटी पुस्तकें, जो उन्हे बहुत पसन्द थीं, वह एकदम ख़रीदने से पहले ही पढ़ डालना चाहते

थे। उन्हें भी वे नहीं ख़रीद सके। ये सेठ-बन्धु, मेरा विचार है, इतने धनग्राही नहीं हैं, जितना उन्हें इस समय बनना पड़ा, पैसे की मन में कुछ हठपूर्ण पकड़ हो जाने की वजह से और अधिकांश में मेरी अनावश्यक अनुचित ग़रज़मन्दी प्रकट होने के कारण। इस सौदे के बिगाड़ में अधिक दोष मेरा है। 'बालविनोद' और 'नोकझोंक' के ग्राहक होना उनके दूसरे साथियों ने स्वीकार किया। आर्डर ले लिये गए। 'बालविनोद के ढाई रुपए आप कार्यालय को भेज दें और नोकझोंक के डेढ़ मुझे दें और मुझसे उसके कार्यालय की रसीद लें'—मैंने कहा। उन्होंने समझा, ये डेढ़ रुपये सकट में पड़ेंगे। 'नहीं, रुपया हम आपको नहीं देंगे।'—एक महोदय ने कहा। 'तो फिर मनीआर्डर कर दीजिए कार्यालय को।'—मैंने सलाह दी। अब मनी-आर्डर के दो आने पैसे की समस्या उठ खड़ी हुई, वह भी कठिन थी। आख़िरकार उन्होंने रसीद लेकर डेढ़ रुपया मुझे देना स्वीकार कर लिया, जब कि मैंने ढाई रुपए एक दूसरे ग्राहक के उन्हें और दिये, अपने ढाई रुपए के साथ 'बालविनोद'-कार्यालय को मनीआर्डर करने के लिए। उसके मनीआर्डर-कमीशन का बोझ हमने आधा-आधा बाँट लिया। मनुष्य इस ज़माने में मनुष्य का विश्वास करते डरता है और इसके लिए उसके सामने स्पष्ट कारणों की एक बड़ी संख्या है। तो फिर हो क्या? अधिक उपयोगी यही जान पड़ता है कि वह अपनी समाई के अनुसार कभी-कभी धोखा खाकर थोड़ी-सी हानि उठाने के लिए भी तैयार रहे; लेकिन दूसरों पर विश्वास करने और उनका विश्वासपात्र बनने के रुपहले और सुनहरे संयोगों को हाथ से न जाने दे। मैं उन्हें अपना मित्र बनाकर यह बतला सकता, तो अच्छा होता।

२५-८-४१

२३ और २४ सैर और दावत के दिन थे। मिस्टर रामेश्वरदयाल सक्सेना मेरे मित्र हैं। लीला की भी उनकी श्रीमती जी से ज़रा पुरानी दोस्ती है। उनके यहाँ से विशेष आग्रहपूर्ण निमंत्रण था। ख़ूब स्नेह-

पूर्ण सत्कार रहा। मिस्टर रामेश्वरदयाल एक अच्छे मित्र और फुर्तीली तबीयत के नवयुवक हैं। उनके घर पहुँचने से पहले अपने दो और प्रियजनों कोको बाबू और चाचाजी (बड़ी भाभी के चाचा बाबू गयाप्रसाद जी) के घर सफरी भेंट की, स्नेहभाव इतना तो करा ही लेता है।

यह बुकसेलर की डायरी है, और इसके पन्नो पर उभरे हुए चित्रों पर थोड़ा-थोड़ा रंग भर देना मेरा काम है। एक चित्र यह है—कोको बाबू यानी बाबू उमाशंकर। जीवन की परिस्थितियों ने इन्हे एक सामाजिक दर्जे का व्यवहार-कौशल सिखाया है। जब कुछ कहते हैं तो ख़ूब कहते हैं, और इनके कथन में धार्मिकता की अपेक्षा उपयोगिता के लिए अधिक स्थान रहता जान पड़ता है। सहृदयता इनमें है भी और सीखी भी है। पर-सेवा इनका व्यावहारिक स्वभाव-सा है। भीतर कुछ ढँका हुआ-सा और भी कुछ है—आँखों में एक परख, जो कभी-कभी जागती है और अन्तस् में एक अलसाई-सी खोज, जिसे इन्होने कभी-कभी देखा है और मुझे भी इसका एक-आध बार अनुमान हुआ है।

ऐसी बातें बड़ों की ही नहीं, मझलो और छोटों की भी हुआ करती है। कोको बाबू के स्नेहभाव का मुझ पर अधिकार है।

और यह कौन ? दूर-पास के किसी नाते-रिश्ते ने उसे मेरे पास बिठाया हुआ था। कह दिया था, थोड़ी-सी बातचीत कर लो। ऐसे नाते-रिश्ते निकल आने से किसी अपरिचित से भला आत्मीयता होती है ? लेकिन मैंने देखा, उसकी आँखों में आत्मीयता और उस आत्मीयता मे—यहाँ स्वाभाविक ही है—रूप और बचपन-पार के तकाजे का भी कुछ हाथ। उसका नाम मैंने पूछ लिया था।

लेकिन उसकी चर्चा ही क्यों ? न उसने मेरी कोई किताबें ख़रीदीं और न उसे ख़रीदनी ही थीं।

आज श्रीकृष्ण झा से फिर भेंट की। अपनी एक कापी उनसे वापस लेनी थी और दर असल उनसे मिलना भी था। उनके पुस्तकों-वाले कमरे मे उनके साथ उस कोचपर बैठकर बातें करते हुए मैंने अनुभव किया कि मैं विद्या और विनय के एक सागर के किनारे बैठा हुआ उसकी तटवर्ती दो-एक लहरों मे भीग रहा हूँ और साथ ही उसके गम्भीर अदृष्ट-विस्तार का आभास भी मुझे मिल रहा है। श्रीकृष्ण झा एक यशकामी उपदेशक या लेखक नहीं बने, यह उनका सन्यास है और उनके लिए स्वाभाविक है। वह एक आगे चलनेवाले लोक-सेवक नहीं बने, यह उनकी शैली है और उपयोगी है। उनसे मुझे प्रोत्साहन मिलता है, और भी किसी को मिलता होगा। मेरे लिए उपयोगी दो पुस्तकें उन्होंने मुझे पढ़ने को दीं।

एक छोटी-सी फेरी आज सबेरे की। मैंने देखा है कि यह फेरी करीब करीब हमेशा ही, फेरीवाले की मजदूरी अदा कर देती है और इसके काम मे कोताही बुकसेलर का एक हानिकर अवगुण है।

सूटरगज मे मिस्टर जोशी के दरवाजे पहली आवाज दी और वहाँ दो छोटी-छोटी किताबें खरीद ली गईं। कुछ आगे चलकर दूसरा दरवाजा था, मैंने उस धुँधले नेम-बोर्ड में पढ़ा, मिस्टर नागेश्वरप्रसाद इस्पेक्टर म्युनिसिपल बोर्ड का। वहाँ जिन सज्जन ने मुझे देखा, ऐसे देखा जैसे कुछ पहचान रहे हों। "आप अभी किताबें दिखलायेंगे, तो फिर चलिए मैं अभी आपके साथ वहाँ चलता हूँ, वहाँ कुछ किताबें ले ली जायँगी" उन्होंने कहा। अपने हिन्दुस्तान में एक साधारण फेरी-वाले के साथ इतनी सज्जनता का व्यवहार करने के लिए मैंने उन्हें मन ही मन अपनी और सामाजिक मानवता की ओर से धन्य-वाद दिया।

एक अच्छे-से मकान में जीने पर चढ़कर आँगन के पार मुझे एक भीतरी कमरे में ले जाया गया। एक कुर्सी मेरे लिए डाल दी गई। क्या मै वहाँ पड़ी हुई चारपाई पर या फ़र्श पर नहीं बैठ सकता था?

मैंने देखा, वह मेरी नहीं, उनकी शान के खिलाफ़ था। एक सौम्या नवयुवा महिला ने कमरे में प्रवेश किया। यही सम्भवतः गृहस्वामिनी थीं। उन्हें देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। हमारे मध्य-श्रेणी के परिवारों का शैक्षिक और व्यावहारिक स्टैंडर्ड कम से कम इस परिवार का जितना होना चाहिए। उन्होंने तथा एक और सज्जन ने—शायद यह घर इन्हीं का है—पुस्तकें देखीं। ख़रीदने के लिए दो पुस्तकें पसन्द कीं—'शुभ्रा' और 'पूजा'। उन्हे पता नहीं, इन पुस्तकों के दाम वे पिछले उतने मिनटों मे बहुत कुछ चुका चुके थे। "किताबें तो इनमें से और भी बहुत-सी पढ़ने को जी करता है, लेकिन हम अभी हाल में ही ये नई किताबें ख़रीद चुके हैं" गृहदेवी ने अलमारी में रक्खी कुछ पुस्तकें दिखाकर कहा। इस वाक्य में, मैंने देखा, उनकी साहित्यिक सुरुचि भरी हुई थी। एक पुस्तक, राय कृष्णदास की 'भावना', उन्होने और ख़रीदी और तीनों पुस्तकों के दाम लेकर मैं वहाँ से बिदा हुआ।

२६-८-४१

मिस्टर देवीप्रसाद नेशनल बैंक में काम करते हैं। आज उन्होने मुझे अपने दफ्तर मे किताबें बेचने के लिए बुलाया था—बुलाया क्या था उन्हे बुलाना पड़ा था—कुछ संकोचवश, एक दूसरे मित्र के अनुरोध से। वहाँ किताबे बिकने की मुझे आशा नहीं थी। शायद उन्हे भी नहीं थी। फिर भी जाना मेरा काम था और बुलाना उनका कर्त्तव्य था। उन्होंने अपने मित्रों से पुस्तकें देखने को कहा। उन्होंने देखीं; मगर न उन्हें कोई पुस्तक ख़रीदनी थी और न किसी पुस्तक को उनके हाथ बिकना था। देवीप्रसादजी मेरे पूर्वपरिचित मित्र हैं। इन्श्योरेन्स के कनवेसर भी हैं। उनके भीतर मैंने अपने बुकसेलर से मिलता-जुलता मानो उसी का एक प्रतिरूप देखा, जो व्यवसाय की बात करते-करते थक-सा जाता है। जितनी बड़ी बात कहता है, उसका आधा भी रोब उसके लहजे में नहीं आता; अपने सौदे में जितना लाभ गाहक का

बतलाता है, उससे दूनी गरज़मन्दी अपनी दिखा बैठता है। ठीक यही कसरें मुझमें भी हैं। व्यापारी अपने को गाहक से छोटा और उसका एहसानमन्द समझने लगता है, यह भूल है। दरअसल वह गाहक को उसके लाभ की एक वस्तु देता है, जिसका मूल्य गाहक को सहप पैसों में अदा करना चाहिए, और वह चीज यदि उसके पास विज्ञापन और सुविधा के साथ पहुँचाई गई है, तो उसे व्यापारी का आभारी भी होना चाहिए।

मिस्टर कालकाप्रसाद पंचाल भी मेरे स्नेही प्रियजन है। उनकी गिनती विशेष ज़िन्दादिल नवयुवको में की जा सकती है। एक प्रतिष्ठित धार्मिक संस्था के स्थानीय सेक्रेटरी हैं। किताबें ख़रीदने और बिकवाने के लिए आज मुझे अपने आफ़िस में बुलाया था। उन्होंने और उनके मित्रों ने कुछ पुस्तकें ख़रीदीं। अपने दफ्तर के छोटे-बड़े और बराबर के सहकारियो मे उनका सजीव सम-मैत्री-भाव मुझे पसन्द आया।

२७-८-४१

आज आर्यनगर की फेरी का प्रोग्राम था, लेकिन सवेरे ही सवेरे कानपुर के इनकम टैक्स-आफ़िसर कुँवर यमुनाप्रसाद सिह से मिलने जाने का फ़ैसला हो गया। फेरी लगती है, तो किताबें बिकती हैं। किताबें बिकती हैं तो मेरे लिए भी पैसे बचते हैं। फेरी में अक्सर ऐसी तसवीरें—जीती-जागती मानव-मूर्तियाँ—सामने आ जाती हैं, जिनसे कभी कुछ सीखा जा सकता है, जिन्हें कभी कुछ सिखाया जा सकता है और जिनपर कभी-कभी कुछ मुग्ध भी हुआ जा सकता है। लेकिन इस 'मिलने जाने' मे ? इसमें मैंने देखा, मेरे बुकसेलरी के जीवन के लिए एक नये ही ढंग का अनुभव था।

कुँवर साहब के बँगले का फाटक पार करते ही मैंने पहली बार अनुभव किया कि मैं आज किसीको पढ़ने नहीं, उसके सामने स्वयं अपनी परीक्षा देने जा रहा हूँ। कुँवर साहब एक सहृदय साहित्य-प्रेमी हैं, यह मुझे बतलाया गया था। उनके ड्राइंग-रूम में मुझे सत्कार-

पूर्वक आने दिया गया। उस गोल मेज़ के किनारे एक कुर्सी पर बैठते ही वहाँ के वातावरण में मैंने पहली बार अनुभव किया, मानो मैं बहुत कुछ साहित्यिक सेवा-साधना कर चुका हूँ और इस क्षण उसका मुझे पुरस्कार मिल रहा है। कुँवर साहब मेरे सामने ही बैठे हुए थे। श्रीकृष्ण झा वहाँ पहले से ही मौजूद थे। उन्होंने कुँवर साहब को मेरा परिचय दिया। मैंने भी उस समय सोचा, मैं कोई साधारण बुकसेलर नहीं, एक सहृदय और होनहार साहित्यिक हूँ। श्रीकृष्णजी के द्वारा उन्हें मेरा परिचय मिला था। 'इसके लिए तो मुझे आपका ही कृतज्ञ होना चाहिए।'—उन्होंने अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए झा जी से कहा, और मैंने इस पुराने-से शिष्टाचार के वाक्य मे एक नया ही अर्थ देखा, जिसने मुझे गौरव तो नहीं, प्रोत्साहन बहुत कुछ प्रदान किया। वाक्यो के अर्थ सम्भवतः उनके शब्दों मे नहीं, उनके बोलनेवालो में ही अधिक हुआ करते हैं। मैंने भगवान् को मन मे धन्यवाद दिया कि मैं अपने लिए इनकम-टैक्स की अदायगी में उनसे रियायत की कोई प्रार्थना करने नहीं आया था और न अपने बक्स की किताबो का कुछ बोझ ही हलका करने की मेरी उस समय उनसे ग़रज़ थी, नहीं तो शायद मै उनके इतने स्नेह-सत्कार का अधिकारी न हो पाता।

नाहक ही मेरी आँखें अब तक कमरे की दीवारो पर टँगी हुई तसवीरो मे आश्रय खोज रही थीं। वे जैसे किसी कुशल परीक्षक के परीक्षा-भय से भागती हुई कोई पनाह ढूँढ़ रही थीं और वहाँ के साधारण-से चित्र-संग्रह में उन्हें अटकने लायक़ कोई चीज़ नहीं मिल रही थी। आख़िर उन्होंने स्वस्थ होकर देखा, कुँवर साहब का सौम्य सुगठित चेहरा सामने मुस्करा रहा था। मेरे सामने मेरे अध्ययन की सर्वोत्तम वस्तुओं में से एक उपस्थित थी। मेरी परीक्षा कैसी? मैंने अब उत्सुकतापूर्वक उसका अध्ययन प्रारम्भ कर दिया।

मैंने देखा, कुँवर साहब साहित्य के ही नहीं, साहित्यिको के भी पारखी-प्रेमी हैं। वह धन और मान के ही नहीं, सुरुचि के भी सम्पन्न

है। 'पूजा', 'शुभ्रा' और 'बुकसेलर की डायरी'--इन्हीं पहलुओं से उन्हें मेरा परिचय दिया गया था। 'पूजा' और 'शुभ्रा' मैंने उनके हाथ में दीं। इनके लगभग सभी पृष्ठों पर उन्होंने नज़र डाली। मैंने देखा, प्रत्येक लेख के एक-एक वाक्य से उन्होंने इन पुस्तकों की भावनाएँ उतनी ही देर में पढ़ लीं, जितनी में उनका लेखक उन्हें पढ़ सकता था। इसमें मैंने उनकी प्रखर अध्ययन-क्षमता देखी। 'बुकसेलर की डायरी' के कुछ अंश भी उन्हें सुनाये गये। सभी चीज़ें उन्हें पसन्द आईं। डायरी से उनका काफ़ी मनोरंजन भी हुआ। 'आप ज़रा सम्हलकर रहिएगा, यह (डायरी) बड़ी ख़तरनाक चीज़ है।'—उनके एक उपस्थित प्रियजन ने उनसे कहा।

मैंने कहा—'आपके लिए कोई फ़िक्र की बात नहीं। यह डायरी तो सिर्फ़ मेरे गाहकों के लिए है।' यह प्रसन्न मण्डली मुझ-जैसे कम-हैसियत बुकसेलर के लिए बड़े लोगों की मण्डली थी; लेकिन इसने मुझे अपने साथ सरस सम-व्यवहार के लिए मानो ऊपर उठाया हुआ था। इसका कारण वहाँ की साहित्यिक सहृदयता थी, और इस सहृदयता का स्रोत था मेरा उस घर का आतिथ्यकार।

दस बजने को थे। कुँवर साहब के इनकम-टैक्स आफिस का समय हो रहा था। मेरे सिर पर पाँच बजे शाम की डाक से निकालने के लिए एक पोस्टकार्ड लिखने का बोझ सवार था। उनके और अपने बीच कार्य-क्षमता का अन्तर मैं देख रहा था। मैंने पिछले अनेक अवसरों की तरह आज कुँवर साहब के सामने भी साश्चर्य सोचा, किस तरह मैं अधिक काम करने की समाई बढ़ाकर, अधिक अवकाश और मनोरंजन का उपभोग अधिक निश्चिन्तता के साथ कभी कर सकूँगा।

'पूजा' और 'शुभ्रा' कुँवर साहब को पसन्द आई थीं। अब ये पुस्तकें मुझे उनको भेंट करनी चाहिए थीं; लेकिन मेरा न्याय कह रहा था, अधिक अच्छा हो, अगर कुँवर साहब इन्हें ख़रीद ही लें। मुझे प्रसन्नता ही हुई, जब मैंने देखा कि उन्होंने अपने नौकर से डेढ़ रुपए—

दोनों पुस्तकों के दाम—मँगाकर मेरे हाथ में रख दिए। 'इतना ही इनका दाम है न? मैंने किताबों पर छपे हुए दाम देखकर दिए हैं। अगर कागज़ और छपाई की मँहगी के इन दिनों में इनके दाम बढ़ गये हों, तो बतला दीजिए।'—उन्होंने विनोदपूर्वक कहा। लेकिन मेरे पिछले, कमीशन और किफ़ायत के लिए उलझनेवाले, गाहकों में से कोई भी उत्तर देने नहीं आया।

अगले दिन कुँवर साहब को और भी पुस्तकें दिखाईं। जो उन्हें पसन्द आ सकती थीं, उन्होंने ले लीं। दाम जोड़कर मैंने बतला दिए। 'बस, इतने ही?'—उन्होंने सम्भवत: समझा, दाम बहुत कम हैं। मुझे कहना पड़ा—'जी हाँ, इतने ही। मैंने आपके लिए स्पेशल रेट लगा दिया है।' 'नहीं, ऐसा मत कीजिए, आप पूरे दाम लीजिए'—उन्होंने आग्रह किया। मैंने उन्हें बताया कि मैंने उनसे बिना डिस्काउंट और कमीशन का स्पेशल रेट चार्ज किया है। सचमुच कुँवर साहब मेरे स्पेशल गाहक हैं, और मैं उनसे किसी विशेषता की ही आशा कर सकता हूँ।

२-९-४१

३० अगस्त को कानपुर से चलकर इटावा में डेरा डाला गया है। किताबों का स्टाक यहाँ काफी नहीं है, और अब आगरा पहुँचने की भी जल्दी है, इसलिए यहाँ कोई विशेष काम नहीं किया गया। कल-परसों शहर में दो-एक जगह परिचय किया और आज एक फेरी लगा ली। श्री सूर्यनारायण अग्रवाल (बी० ए०) स्थानीय पब्लिक लाइब्रेरी के सेक्रेटरी हैं। आज की फेरी में पहली भेंट उन्हीं से की। खातिर से पेश आए। दो पुस्तकें खरीदीं, एक पत्र के ग्राहक बने। आर्डर के लिए और पुस्तकों की सूची उनके पुस्तकाध्यक्ष बनाकर देंगे। मेरे परिचय की भी कुछ बातें उन्होंने पूछीं। ऐसी पूछ-ताछ में अक्सर अहृदय कौतूहल और पूछे जानेवाले के सम्मान के प्रति उपेक्षा का भाव रहा करता है; लेकिन इनके शब्दों में मैंने आदर और मिठास तथा स्वर में अपनेपन की

तरलता देखी। इनसे मिलकर प्रसन्नता हुई। बड़े सज्जन और मिलनसार हैं।

सनातनधर्म हाई स्कूल में पहली भेंट वहाँ के क्लर्क या हेडक्लर्क महोदय से हुई। उन्हें मैंने वयोवृद्ध सनातन-धर्म का ही मूर्त्त रूप पाया। मुझ से दया-ममतापूर्वक बातें कीं। हेडमास्टर साहब से भी बात हुई। सज्जन और उदारचेता जान पड़े। हिन्दी-अध्यापक को एक पुस्तक मैंने देखने के लिए दी। उनके कुछ विद्यार्थी पुस्तक खरीदना चाहेंगे, तो वे कल मुझे बतलायँगे। सनातनधर्म हाई स्कूल मुझे सुगम और सुविधापूर्ण जान पड़ा।

डाक्टर शम्भूशरन अग्रवाल हँसमुख और सुस्वभाव नवयुवक हैं। उन्हें देखकर भी मुझे प्रसन्नता हुई। उनके मतलब की कोई पुस्तक मेरे पास नहीं निकली।

और आगे वह छोटी-सी आर्यकन्या-पाठशाला। छोड़ते-छोड़ते सोचा, लाओ यहाँ भी थोड़ी-सी आजमाइश करते चलें, शायद कुछ बिक ही जाय। मैं तो नहीं, मेरी किताबें जरूर स्कूल के अन्दर जा सकती थीं, एक नौकरानी से मुझे मालूम हुआ। कुछ किताबें मैंने भीतर भेज दीं। क्लर्क बाबू का जवाब आया कि मैं तीन बजे हेडमिस्ट्रेस से मिल सकूँगा। मिलना-जुलना बेकार ही रहेगा, मैंने सोचा; लेकिन फिर भी हर्ज क्या है? किताबें दफ्तर में छोड़कर मैं घर वापस आया और तीन बजे फिर वहाँ जा पहुँचा। क्लर्क बाबू के दफ्तर मे इन्तजार करते हुए बैठे-बैठे मैंने सुना, हेडमिस्ट्रेस अपने पार्टीशन में बैठी स्कूल-मैनेजर से बात कर रही थीं। मुझे सुनकर कौतूहल हो रहा था, क्योंकि उनकी आवाज मसूरी सनातनधर्म गर्ल्स स्कूल की हेडमिस्ट्रेस मिस एम० मुकर्जी से बहुत अधिक मिलती-जुलती थी। थोड़ी देर बाद मुझे पार्टीशन के पर्दे के भीतर उनकी मेज के पास बुलाया गया। मेरे वहाँ जा बैठने पर भी मैनेजर के साथ उनकी बातचीत दो-डेढ़ मिनट और चलती रही। 'माफ़ कीजिएगा',—उन्होंने

बीच में एक बार मुझसे कहा। मैंने उनके इस 'एटीकेट' पर मन ही मन उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हें बात समाप्त कर लेने की अनुमति दे दी। उनके स्वर का ही नहीं, उनके रूप का भी सादृश्य देखकर मुझे अपनी मसूरी की पुरानी ग्राहिका की याद आ रही थी। यह प्रसन्नता की बात जान पड़ती है कि आजकल की कोई-कोई शिक्षिता लड़कियाँ आज के पढ़े-लिखे लड़कों से अक्सर विनय और मधुर व्यवहार में भी आगे बढ़ जानेकी स्पर्द्धा रखती हैं। अक्सर वे नवयुवकों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह जानती हैं कि नवागत अपरिचितों को अनुगृहीत करने के लिए कम से कम कितना अवश्य करना चाहिए। 'किताबें तो उनका बजट मञ्जूर होने पर खरीदी जा सकेंगी, फिर भी मैं ये दो किताबें अभी अपनी जेब से खरीदे ले रही हूँ, क्योंकि आप सिर्फ कल तक यहाँ ठहरेंगे।'—कहकर उन्होंने दो पुस्तकें निकाल लीं और मेरी लिस्ट में से कुछ और किताबों के नाम आयन्दा मँगाने के लिए नोट कर लिये। मुझे भय है, इन जैसी भारतीय तरुणियों की विनम्रता और मधुर व्यवहार अपने परिवार तथा दैनिक सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियो के साथ शायद ही ऐसा रह पाता हो; फिर भी जब, जितने समय के लिए, ऐसे नमूने देखने मे आते है, खुशी होती ही है।

घियागंज वाले घी के व्यापारी उन गुजराती सेठजी को उस दिन दूकान पर विश्राम करते देखा था, और तब से उनके दरवाजे पर एक बार आवाज दे लेने को जी चाह रहा था। आखिर आज उनके दर्शन हुए ही। 'किताबो का सौख नहीं भइया, हमें तो अब वहाँ जाने का सौख है। भगवान् यहाँ की झंझटों से छुड़ाकर बुला ले।'—अपने व्यापारियों के बीच काम में व्यस्त, उन्होंने आकाश में रहनेवाले अपने भगवान् की ओर संकेत करके मेरे प्रश्न के उत्तर में कहा। विस्मयपूर्वक मैंने देखा, उनकी-मेरी रुचि शायद थोड़ी-बहुत मिलती-जुलती थी, यही उनके प्रति मेरी प्रवृत्ति का कारण हो सकता है। मेरे पास भाई परमानन्द की पुस्तक 'मेरे अन्त समय के विचार' उस समय मौजूद थी। उन्हीं के-से मनो-

रंजक स्वर में, मैंने सोचा, इस बात की सूचना उन्हे दे दूँ, लेकिन उनके पास भीड़-भाड़ और उसका शोर-गुल बहुत था, इसलिए मुझे बिना कोई विशेष उत्तर दिये वापस चला आना ही उस समय सुविधाजनक हुआ।

९-९-४१

४ तारीख को आगरा आ गया हूँ, दो दिन कम दो महीने का दौरा पूरा करके। आगरा अब भी घर-सा लगता है। यह और जगहो से, जिनमें मैं आगरे के मुकाबले अधिक समय तक रहा हूँ, अधिक अपना-सा जान पड़ता है। ४ से ७ तक लगभग तीन दिन, मैंने कमाने के लिए कोई काम नहीं किया। यह तीन दिन का आराम अनुचित तो नहीं, लेकिन आवश्यकता से अधिक था। खैर, कल से कुछ काम शुरू कर दिया है। इरादा हुआ था, अबकी बार कलकत्ते जाया जाय। लेकिन प्रबन्ध? प्रबन्ध तो हो ही जायगा, सोच लिया था और हो भी गया। प्रकाश ब्रदर्स की ओर से स्वयं ही मेरे कलकत्ते जाने का प्रस्ताव कर दिया गया। किराया वे देंगे। उनके मासिक 'नोंकझोंक' के ग्राहक बिहार और कलकत्ते में बनाने होंगे। बहुत अच्छा है। कल से इसी पत्र के स्थानीय ग्राहक बनाने के लिए कुछ दौड़-धूप शुरू की है, और आज एक पहला ग्राहक बनाया भी है। पिछले दौरे में सफलता कुछ बढ़ी हुई कही जा सकती है। बिकी हुई पुस्तकों के ११०) प्रकाशकों के देने थे, उनमें से ९५) दे दिये हैं, यह भी सन्तोषजनक है। अबकी खर्च दोहरा, दो मुसाफिरों का था। अकेले जाने पर यह कमी अबकी बार सहज ही पूरी हो जायगी, ऐसी आशा है।

और आज की कोई तस्वीर? एक है। आगरे की एक गली में 'नोंकझोंक' के पुराने गाहकों के दरवाजे खोजते हुए मैंने उन्हे देखा। वह एक अच्छे साप्ताहिक पत्र के सम्पादक और इस तरह एक हैसियतदार व्यक्ति रहे हैं। मेरे परिचित हैं। अपने उस सम्पादन-काल में अक्सर मुझपर उन्होंने कृपा भी की है। आज अचानक भेंट हो गई। बातचीत हुई। मालूम हुआ कि अब तक वे एक स्थानीय दैनिक पत्र में ४०)

मासिक वेतन पर पूरे समय काम करते थे, अब वहाँ कम रुपयों पर कम देर तक काम करते हैं; क्योंकि हिन्दी मे उन्होंने एम० ए० के लिए कालेज मे नाम लिखाया हुआ है। एक ट्यूशन भी है, इसी तरह काम चलता है। लेकिन ४०) रुपए मे—बिना यह हिसाब लगाए कि अब शायद उन्हे ४०) से कम मिलते होंगे—मैं सोच रहा था, इनका गुज़र कैसे, कितने कष्ट से चलता होगा। मेरे मन मे एक करुण-सी सहानुभूति उनके लिए उमड़ रही थी, जैसे मैं उनके वास्ते कहीं ६०-७०) के लिए सिफ़ारिश करने जा रहा था। और मेरे पास? उस समय तक मैंने कई जगह बारह-बारह पैसे के दो-तीन सिक्के कमाने के लिए असफल टक्करें लगाई थीं। उस दिन की कमाई—वही बारह पैसे—मेरी जेब मे आने मे अभी तीन घण्टे की देर थी और उसका भी कुछ ठीक न था। फिर भी अपने ऊपर तरस खाने के लिए मेरे पास कोई बात न थी; क्योंकि मेरी तंगी और ग़रीबी मेरा एक रुचिकर और उद्देश्यपूर्ण प्रयोग था और मै एक नवयुवक था। अपने उन मित्र की संकीर्ण परिस्थिति की मुझे चिन्ता हुई थी; क्योकि वह उनकी एक नीरस-सी परिस्थिति थी, और वे उस परिस्थिति के जैसे तैसे पार पहुँचने के इच्छुक अब एक युवक-मात्र थे। उनके बन्द गले के कोट पर उनकी उदासी की कालिमा रेखांकित थी, और मेरी आधी-बाँह कमीज़ की फटी जेब से मेरी अलमस्ती उझक रही थी।

१२-९ ४१

१० को फेरी लगी। ११ को छुट्टी मनाई, मकान बदलना था, और आज १२ को फिर फेरी लगी। १० को नोकझोंक के ग्राहक बने श्री विश्वेश्वरनाथ, पिक्चर मर्चेंट और श्री मुरलीधर पन्नालाल बेलनगञ्ज निवासी। विश्वेश्वरनाथ जी ने १२ को चन्दा दफ़्तर मे भेज देने का वादा किया और सितम्बर का अंक मैंने उसी समय उन्हे अदा कर दिया। मेसर्स मुरलीधर पन्नालाल ने खन्न से चन्दे की ६ चवन्नियाँ मेरी रसीदबुक के ऊपर उँडेल दीं। मैंने उनका पहला, सितम्बर का

अक अगले दिन उनके पास भिजवा देने का वादा कर लिया। दुनिया मे किसी के लिए कोई जमानत काफी होती है और किसी के लिए कोई।

उस दिन अपने पुकारे हुए गाहकों में भी यथानियम मैंने अपनी सगी दुनिया की कुछ नैरङ्गियाँ देखीं। 'हमे अखबार देखने की फुर्सत नहीं', एक ने कहा; 'हमे माफ कीजिए' दूसरे ने अपनी भारतीय विनम्रता प्रकट की, 'हम तो हाकर को एक पैसा देकर अखबार पढ़ लेते है, और फिर उसे लौटा देते हैं' तीसरे ने अपना कौशल जतलाया (चाहता हूँ, मैं यह खबर किसी हिन्दुस्तानी पत्र-प्रकाशक को कुछ पैसों में वेच सकता !) और चौथे सज्जन ने मुझे समझा दिया कि काम-धन्धे मे लगे लोगों के वास्ते कुछ पढ़ना-लिखना फ़िजूल है। शर्मा रेडियो कम्पनी के नौजवान मालिक (?) ने पहुँचते समय मुझे कुर्सी दी और चलते वक्त हाथ मिलाया। कपड़े के दुकानदार एक कमउम्र सज्जन को इनकार करने में बहुत-कुछ सकोच का सामना करना पड़ा और कई एक बहानों का सहारा लेना पड़ा।

आज की फेरी में पहली भेंट मिस्टर विश्वनाथ शंकर माथुर से हुई। यह सेकिंड इयर के नवयुवक विद्यार्थी हैं। मिलने-जुलने के 'एटीकेट' और व्यवहार की 'कर्टसी' काफी अच्छी जानते हैं और मेरे हिसाब से एक बड़े घर के लड़के हैं। अपने पड़ोस की कुत्ते की कब्र पर बैठे हुए मैंने अक्सर उन्हे मोटर साइकिल पर कालेज से घर आते देखा है और उनकी तेज रफ्तारी की कई बार मन मे तारीफ भी की है। "आपके लिए नाश्ता मँगाऊ ?" उन्होने मुझे पूछा और मैंने एक नकारात्मक 'थैंक्स' के द्वारा उनके उस शिष्टाचार को उतना मँहगा नहीं होने दिया।

उनके पिता राय बहादुर, प्यारेशंकर माथुर रेलवे पुलिस के एक उच्च अधिकारी हैं, एक मिलनसार और अपरिचितों से बहुधा खातिर से पेश आनेवाले सज्जन हैं और धार्मिक पुस्तकों के सम्मान

और सग्रह के प्रेमी हैं। अपनी बुकसेलरी के सिलसिले में उनसे मिलकर मुझे प्रसन्नता हुई।

आज आगरे में पहली बार किताबें लेकर फेरी लगाई। किताबों का बक्स ले चलनेवाला मेरा साथी था—बाबूलाल। दोपहर की फेरी मे, धूप और बोझ से लाल पड़ा हुआ। उसका गोरा रङ्ग और उसका थका कुम्हलाया सुकुमार चेहरा मेरे मन को आज खलता रहा। बाबूलाल प्रकाश ब्रदर्स का नौकर है। मैंने उसका कष्ट देखकर नौकर और मजदूर के बीच अन्तर का अनुमान लगाया। मुझे कुछ सन्तोष हुआ कि मै नौकरी से मजदूरी की ही ओर जा रहा हूँ।

और प्रकाश ब्रदर्स। श्री ओमप्रकाश शर्मा का जिक्र न करना एक आवश्यक लेखे को उधार मे डाले रखना है। ओमप्रकाश जी आगरे मे मेसर्स प्रकाश ब्रदर्स के मालिक और एम० ए० के विद्यार्थी एक नवयुवक हैं। कालेज यूनियन के शायद प्रेजिडेण्ट हैं। एक डीसेंट, कामरेड से लगते हैं, भले ही वह इस नाम से चौंकते हों। स्वभाव अच्छा और भाई-चारे का है। मेरा उनका व्यापारिक सम्पर्क हुआ है और मुझे आशा होती है कि आवश्यक होगा तो व्यापारिक सम्बन्ध के साथ-साथ मैत्रिक सम्बन्ध में भी हम दोनों एक दूसरे की क़द्र जैसी चाहिए कर सकेंगे और एक दूसरे से लाभ उठा सकेंगे। "नोक-झोंक के पुराने स्थानीय ग्राहकों को फिर से ग्राहक बनाने के काम में मै भी लगूँगा, अपने छोटे भाई को भी लगाऊँगा और कुछ के पास आप हो आइयेगा" उन्होने अपनी सराहनीय व्यवहार-कुशल शैली में मुझसे कहा। उन्होने मुझसे जिक्र किया "मैंने अपने छोटे भाई को प्रति ग्राहक दो आने देने को कह दिया है" और उनके इस सार्थक कथन से मैंने देखा, उनमें एक होनहार बड़े व्यवसायी की क्षमता है और वह हृदय-ग्राही एवं उदार भी हैं। ऐसी छोटी-छोटी बातें किसी

सहयोगी या सहकारी को, अगर वह हमसे एक सीढ़ी नीचे खड़ा हो, ऊपर उठाने मे बड़ी उपयोगी होती है।

१५-६-४१

१३, १४ और १५ तीनो दिन फेरी लगी। ग्राहक एक ही मिला। तस्वीरें मेरे कैमरे मे बहुत-सी खिंचीं, सैकड़ों-हज़ारो, लेकिन सब अंडर-एक्सपोज़्ड, सिवाय एक, दो और तीसरी यह—इन तीन के। यही तीन तस्वीरें डेवलप हो सकी हैं। पहली यह। यह मेरे गाहक की तो नहीं; मगर एक ऐसे की तस्वीर है, जिसका मैं स्वय कुछ-कुछ गाहक बन बैठा हूँ। तस्वीर मेरी पूर्व-परिचित है और आज मेरे इस कैमरे में, मैं चाहता तो नहीं था, मगर उतर आई है। ऊपर से खाका सरल है। बङ्गाली किफायती कुरता, असहयोग-आन्दोलिता या समझ लीजिए असहयोग-आन्दोलन वालों की जैसी अध-लम्बी धोती, पाँव में चप्पल, होठो पर तो सदैव नहीं, पर दाँतों पर अधिकार जमाकर रहनेवाली पानों की लाली, चौड़ा माथा और बड़ा-बड़ी आँखें। होठों के बीच अक्सर मुस्कान रहती है और जिह्वा पर विनोद। अब ज़रा भीतर, उन्हीं आँखों की राह। कविता की भाषा में कहूँ तो कह सकता हूँ कि उसमें कहीं एक कसक है, जो रोती नहीं गाती है; मूर्च्छित नहीं होती, मचलती है; कराहती नहीं, विद्रोह कर उठती हैं। वह कवि है। किसी न किसी पर उसका प्यार है—या तो किसी सदेह रूपसी पर या किसी विदेह सुरा पर,जिसे पाने की दौड़ मे कभी तो वह पिछड़ जाता है और कभी उससे बहुत आगे निकल जाता है।

अपने मानव-समाज के सामने वह अक्सर आँखें बन्द कर लेता है। कहता है—'अब मुझे कोई कैसे देखेगा ?' कितना बचपन है उसकी समझ-सूझ में ! लेकिन उसका हृदय सुन्दर और यौवन-प्राप्त है। इससे भी अधिक अच्छी बात यह है कि उसका मुख भी कुछ-कुछ उसी के अनुरूप सुन्दर और युवा है। जैसी प्रगति उसकी चल रही है,

वैसी ही जारी रही तो थोड़ा ही आगे चलकर न केवल उसकी ही आँखों को सजग, खुला रहना पड़ेगा, बल्कि उसके मानव-समाज के उन व्यक्तियों को भी, जो उसकी राहो में ऊँघते हुए बैठे या चलते रहते हैं, आँखें उसके सामीप्य के सम्पर्क मे आकर खुल जाया करेंगी और वह उन्हें और वे उसे कुछ अधिक देखने-परखने लगेंगे। किसे ? जिसका यह चित्र है—बिहार के एक उदीयमान कवि 'कुमुद' विद्यालङ्कार को, जिसकी प्रतिभा ने मुझे प्रारम्भिक भेटों के दिनो मे ही उसका प्रशंसक बना लिया था।

लगभग दो बरस बाद 'कुमुद' से अब फिर पिछले ८-१० दिनों में दो-चार बार भेंट हुई है। 'कुमुद' मेरा गाहक नहीं हो सकता, लेकिन उसके द्वारा मुझे आगरे मे अपना एक तरह से पहला ही गाहक मिला है, और यह दूसरा चित्र उसी का है। यह हैं आगरे के सेठ रतनलाल जैन। मै समझता था, सेठो और रईसों के पास मुझ-जैसे फेरीवाले कुछ अधिक आशा और विनय लेकर जा सकते हैं; लेकिन उतनी श्रद्धा, जिज्ञासा और ऊपर छलकती हुई आत्मीयता लेकर नहीं। लेकिन सेठ रतनलाल के सामने जाकर मुझे अपनी इस धारणा में बहुत से अपवादो के लिए जगह करनी पड़ी। धूप में चलते-चलते साये में किसी पखे के नीचे कुछ देर के लिए पहुँच जाना बहुत आरामदेह होता है; उसमें धूप से झुलसता हुआ शरीर शीतल हो जाता है। लेकिन किसी-किसी पखे की ठण्डी हवा ऐसे समय थके-हारे मन तक पहुँच जाती है। सेठ रतनलाल के कमरे का पंखा एक ऐसा ही पंखा है, उसके नीचे पहुँचते ही मैंने अनुभव किया। मैंने अपनी किताबों का बक्स खोलते ही सुना, उन्होंने मेरे परिचय का सवाल कर दिया था। 'मैं एक बुकसेलर हूँ...' मैंने कहा। 'यह तो ठीक है, फिर भी आप अपना कुछ परिचय तो दें।' उनका आग्रह था।

नाम, निवास और अपने नियोजक कुछ पुस्तक-भण्डारो के नाम उन्हे मैंने बता दिये और उनके उस आग्रह में समाई हुई

ग्राहकता को मैंने, उनके प्रति अपने पहले आदर के साथ, मन में अङ्कित कर लिया।

खरीदने के लिए मेरी कुछ किताबें उन्होंने छाँट लीं और परखने के लिए उनके थोड़े-से, दो ही समझ लीजिए, गुण मैंने। उनका चेहरा हँसता हुआ रहता है, और जब वह किसी से बात करते हैं, तो उसके मन को भी भीतर से कुछ-न-कुछ हँसा ही देते हैं। प्रोत्साहन और सहयोग देने की ऐसी समाई उनमें है। 'तुमने हिन्दुस्तान घूमने के लिए यह तरकीब तो अच्छी निकाली है। इसमें जरूर सफलता मिलेगी। काम अच्छा चलेगा। आरम्भ में तो कुछ घाटा और निराशा होती ही है, उसकी परवाह न करनी चाहिए। उन्होंने मेरे कार्यक्रम में दिलचस्पी लेते हुए कहा, और मुझे ऐसा लगा कि परदेस में, तङ्गी, निराशा और थकान के समय, मेरी अनेक जायदादों के बीच, उनके ये शब्द भी एक सहारे की पूँजी-सी बनकर अक्सर मेरे साथ रहा करेंगे। यह प्रसन्न रहने और दूसरों को प्रसन्न-प्रोत्साहित करने की क्षमता मनुष्य का एक बहुत बड़ा गुण है। मैंने बड़ी प्रसन्नता के साथ देखा, उनकी रुचि स्तुति और प्रतिष्ठा के उतने समीप नहीं है, जितने स्नेह और आत्मीयता के। 'रतन, तुम्हें अब की हमारे भण्डार से किताबें जरूर खरीदनी पड़ेंगी।' अपने एक पुस्तक-व्यवसायी मित्र के शब्द उन्होंने मुझे बातचीत के दौरान में सुनाये। उनकी इस उक्ति से मैंने देखा कि सेठ रतनलाल जैन को जब कि अपने आदर-आडम्बर-विहीन छोटे-से नाम से सस्नेह पुकारे जाने में—और उससे भी आगे दूसरों के सामने उसी अधूरे नाम का उल्लेख करने में—गौरव का-सा अनुभव होता है, तो वह इसी एक गुण से भी 'रत्न' है।

मैं उस शिष्ट गदार छोटी-सी कुर्सी पर बैठा हुआ हूँ। वह अपने लम्बे कोच से उठकर, मेरी कुर्सी पर अपने हाथों को सहारा देकर खड़े

हुए मुझे अपने संग्रह का एक धर्म-ग्रन्थ दिखा रहे हैं। आधा मिनट बीत जाता है। 'सेठजी, आप तकलीफ उठा रहे हैं, बैठ जायँ।'—मैं उनसे कहने को होता हूँ; लेकिन नहीं कहता। एक मिनट—दो-ढाई-साढ़े तीन-चार, शायद पाँच मिनट तक बीत जाते हैं और वह उसी तरह खड़े हुए मुझे उस ग्रन्थ के पन्नों का पारायण करा रहे हैं—उतनी ही रुचि के साथ, जितने आदर से मै उन्हें देख रहा हूँ। मैं उन्हें उनके परिश्रम की याद दिलाकर आराम से बैठ जाने के लिए आखिर नहीं ही कहता। कहता भी क्यों? मेरी निगाहों में उनका आसन उस समय उस पड़े हुए कोच से बहुत ऊँचा उठा हुआ था, और मैं अपनी छोटी-सी कुर्सी पर बैठा हुआ उनका अभिनन्दन-सा कर रहा था। मुझे उनके प्रति श्रद्धा हो रही थी कि उनमें झूठा गर्व-गौरव नहीं, सच्चा बड़प्पन ही झलक रहा था।

सेठजी एक समृद्ध धनपति है। मुझे पता नहीं कि उनकी आय और व्यय के मार्ग कितने कुशल और उदार हैं, और उनका अनुपात कहाँ तक उपयुक्त और अर्थसंगत है; लेकिन मेरा अनुमान है कि वह जैसा चाहिए, वैसा ही होगा। इतना तो मैंने देख ही लिया है कि वीरपुस्तकालय को उनके व्यक्तित्व में एक समृद्ध और उदार अध्यक्ष मिला हुआ है, इसलिए यह पुस्तकालय भी समृद्ध है और इसकी अलमारियाँ सदैव अच्छी नई पुस्तकों के लिए उदारतापूर्वक बाँहे फैलाये खुली रहती हैं। ऐसे भाग्यशाली पुस्तकालय कम ही होते हैं। सेठजी का पुस्तक-प्रेम प्रशंसनीय है और इसके लिए उनकी सद्व्ययिता भी सराहनीय है। सेठजी का यह इतना चित्र तीन दिन की भेंटों में लिया गया है। मैं समझता हूँ कि अब तक के ही नहीं, आगामी चित्रों में भी यह काफी सुन्दर जँचता रहेगा।

अब तीसरा चित्र यह है। उस छोटे-से ५-७ बरस के भिखारी का। 'बाबूजी, बाबूजी' कहता हुआ वह सड़क पर मेरे

पीछे दौड़ आया और पास पहुँचकर उसने मेरे सामने हाथ फैला दिया। मासिक 'नोंक झोंक' की एक प्रति मेरे हाथ में थी, वही मैंने उसके फैले हुए हाथ में रख दी। बेचारे छोटे से भिखारी को पैसा नहीं मिला। पत्र के ऊपर छपा हुआ रंगीन चित्र भी उसे कुछ आकर्षित नहीं कर सका; फिर भी उसके दाँत हँसी से खुल गये। भिखारी मेरे पत्र का वार्षिक ग्राहक नहीं बना; फिर भी मेरे हृदय और होठ मुस्करा उठे। हम दोनों ने इस विनोद का सुख उस क्षण बराबर-बराबर बाँट लिया। 'नहीं, बाबूजी, पैसा दे दो।' बालक ने दूसरे ही क्षण प्रार्थना की। अपना अख़बार उसके हाथ से खींचकर मैंने कहा—'भाग जाओ, पैसा नहीं है।' और वह अपनी विफलता पर भी वैसे ही हँसता हुआ भाग गया। मैंने देखा, उसका दिखाया हुआ यह छोटा-सा सबक भी सीख लेना मेरे लिए कितना कठिन था। मैं अपनी किसी विफलता पर हँसते या उससे पहले की किसी विनोद-भावना पर मुस्कराते रहने में कितना अक्षम हूँ। 'पैसा नहीं है।'—मैंने उससे कह दिया था। अब सोचता हूँ, मैं यहाँ लिख सकता कि मेरी जेब में उस समय एक भी पैसा न था, तो यह इस समय मेरे लिए कितना सन्तोषजनक होता!

भीख माँगना साधारणतया जुर्म होना चाहिए और भीख देना भी एक अपराध समझा जाना चाहिए। लेकिन सामने फैले हुए भूखे पेट या कम-से-कम भूखी आँखोंवाले हाथ पर कुछ न रखना, यह तो मानव सहृदयता से गई-गिरी बात जान पड़ती है। जिस राह से मैं शहर आता जाता हूँ उस पर मुझे साधारणतया छः भिखारी प्रतिदिन मिल सकते हैं। तो छः पैसे आते और छः जाते—लगभग १२ पैसे रोज़ उन फैले हुए हाथों पर रखना सम्भव है? न भी हो—अभी मुझे कठिन ही जान पड़ता है। लेकिन दो या एक पैसे की रेवड़ियाँ तो मैं उनके लिए और उसमें से प्रायः कुछ अपने लिए भी जेब में रख सकता हूँ और मैं सोचता हूँ इस तरह

उनका कुछ सहायक नहीं तो उनके लिए कुछ मीठा अवश्य बन सकता हूँ।

और वे सैकड़ों हज़ारों तसवीरें जो नगर के बाज़ारों, गलियों और मुहल्लों में घरों-दूकानों पर बैठे या राह-चलते व्यक्तियों की झुण्ड की झुण्ड मेरे कैमरे में उतर आती हैं, जिनमें बहुतेरी मेरी ओर देख भी लेती हैं और जिनमें से कुछएक से थोड़ी—बहुत मेरी बातचीत—अक्सर ग्राहक और बेचनेवाले की बातचीत—भी हो जाती है, वे सभी तसवीरें मेरी उस एकान्त दृष्टि से श्रद्धेय और आत्मीय की-सी होती हैं। लेकिन उन सबको दोबारा दीख पड़ने लायक रूपों में अलग-अलग रँग लेना अभी मेरी शक्ति के बाहर है।

१७-९-४१

बेलनगंज आगरे का धनी व्यापारी मुहल्ला है। इस मुहल्ले के कई एक चक्कर मैं लगा चुका हूँ, लेकिन मिला बहुत कम लोगों से ही हूँ। आज मुझे इसी मुहल्ले में यहाँ के रईस, बैंकर और आइस-फैक्टरी के मालिक श्री कृष्णप्रसाद भार्गव से मिलकर 'नोंक-झोंक' का एक साल का चन्दा वसूल करना था। कायदे की पाबन्दी मुझसे कराई गई और वहाँ से बादामी काग़ज़ का एक टुकड़ा माँगकर अपनी पेंसिल से विज़िटिंग-कार्ड तैयार करके मैंने भेज दिया। दूसरे ही क्षण मुझे एक सादगी से सजे कमरे में पहुँचा दिया गया। पहली ही नज़र में मैंने देखा, उस कमरे की मेज़ और आम तौर पर जितनी अमीर होती, उतनी नहीं थी, और उसके उस पार की कुर्सी का अधिष्ठाता आम तौर पर जैसा अधिक धन और कम-हृदय होता, वैसा नहीं था। श्री कृष्णप्रसाद भार्गव नवयुवक हैं, और उनका व्यक्तित्व सुन्दर है। 'नोंक-झोंक' का वार्षिक चन्दा डेढ़ रुपया मैंने उनसे पहले 'वसूल' किया, या उन्होंने ही मुझे पहले 'अदा' कर दिया, मैं नहीं कह सकता; लेकिन यह प्रभाव मुझ पर स्पष्ट पड़ा कि

उनका बातचीत का ढंग मिलनसार और आकर्षक है। इनकी गिनती पूँजीपतियों की श्रेणी में की जा सकती है, और यदि इस वर्ग के व्यक्ति अपने जीवन मे व्यवहार के लिए इनकी जितनी भी सरसता और उदारता—अपने धन से नहीं, बल्कि अपनी सहृदयता से—ख़रीद रक्खा करें, तो उनके अपने और लोकहित के लिए कितना अच्छा हो। श्री कृष्णप्रसाद भार्गव जैसे व्यक्तियो को उनके सामने कुछ अधिक देर बैठकर पढ़ने की इच्छा होने लगती है ; लेकिन 'बहता पानी' और 'रमता जोगी' जहाँ जितनी देर अटक लिया, वही बहुत है।

२४-९-४१

कल से अपनी फेरी की तीसरी (और एक तरह से चौथी) यात्रा प्रारम्भ है। अब की यह कलकत्ते तक की है। कल रात आगरे से चलकर आज सुबह कानपुर में पहला पड़ाव डाला है। यात्राओं पर चलते समय अक्सर कुछ उदासी-सा, सूना-सूना-सा न जाने क्या मन में लगने लगता है। यह विछोह, वियोग या कष्ट के भय-जैसी कोई चीज़ न होकर और ही कुछ होती है, जिसे मैं अपने होश के बचपन से लेकर अब तक नहीं समझ पाया हूँ। अवश्य ही यह कोई आध्यात्मिक-सी चीज़ है। चूँकि मेरी यात्राएं अब एक बुकसेलर की यात्राएँ हैं, इसलिए मुझे इस जैसी चीज़ो को चित्त से हटाकर मन के किसी दूसरे कोने में स्थानान्तरित कर देना चाहिए। जब 'चाहिए' तो फिर मुश्किल ही क्या ?

१७ के बाद आज डायरी लिख रहा हूँ। तो फिर २१ की वह बात लिख ही लूँ। रायबहादुर प० ज्योतिप्रसाद उपाध्याय वकील ने कोई एक सप्ताह पहले 'नोक-झोंक' का ग्राहक होना स्वीकार कर लिया था। सितम्बर का अक मैं उन्हे दे भी आया था। तब से चन्दे के लिए मैं उनके घर के क़रीब ५-७ चक्कर लगा चुका था। 'दो-चार दिन बाद आकर चन्दा ले जाना'—एक बार वकील साहब ने कहला दिया और बीच में, बाकी बार, वह घर पर नहीं मिले। २१ को

आखिर मिले। 'अभी रुपया नहीं है, फिर कभी आकर ले जाइएगा।'—उन्होंने निस्संकोच कहा। मुझे असफल ही लौटना पड़ा। मेरी दौड़-धूप और असुविधा के लिए वकील साहब की उदासीनता या असहानुभूति में मुझे कोई विशेष दिलचस्पी नहीं है। इस इतनी-सी बात को लेकर मैं उनके बारे में कोई धारणा भी नहीं बना पाया हूँ, लेकिन इस-जैसी घटनाओं से लोकव्यवहार का एक व्यापक-सा प्रश्न उठ खड़ा होता है। दूसरों की सुविधा-असुविधा का ध्यान रखना हमारे लिए क्या किसी अच्छी सुभीते की हद तक सम्भव नहीं है? अवश्य सम्भव है, और इसके लिए थोड़ी-सी सहानुभूति-शिक्षा की आवश्यकता है। इसके लिए व्यवहार में अक्सर कुछ भी अधिक करने, कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं है, केवल कहने में थोड़ी सावधानी रखनी काफी है। ज़रा सोचकर, हिसाब लगाकर बताया जा सकता है कि फलाँ दिन फलाँ समय पर रुपए मिल सकते हैं। अगर एक बार वादे पर दाम न दिए जा सकें, तो दूसरी बार ख़ुद ही अपने नौकर के हाथ उन्हें भेज देना अधिक कष्टकर नहीं हो सकता। यह तो उदारता होकर सुखकर भी हो सकता है। और वकील साहब के घर में वह राकेश! वह अच्छा नवयुवक जान पड़ा।

२९-९-४१

आज कानपुर से फतेहपुर। अगर यह मेरी यानी किसी साधारण बुकसेलर की नहीं, बल्कि मेरे नाम के एक होनहार बड़े और भले आदमी की डायरी होती, तो मैं विस्तार और ज़रा गहरी साहित्यिकता के साथ लिखता कि कानपुर में २६ तारीख़ की सुबह मैं श्रीकृष्ण झा से मिला। वह उनके कानपुर-ज़िला हरिजन-सेवक-सघ के प्रधानत्व का पन्द्रहवाँ और उनके उपवास (स्वास्थ्य-सुधार-सम्बन्धी उपवास) का छठा दिन था। मैं लिखता, किस प्रकार उनके साथ पैदल ही मैं उसी दिन शाम को ठाकुर यमुनाप्रसादसिंह से मिलने गया

और कुँवर साहब के सौहार्द ने मुझे इस बार कितना और अपने समीप खींचा। लेकिन इतना तो मुझे अब भी लिखना ही चाहिए कि उन्होंने अगले दिन मुझे अपने दो मित्रों—इलाहाबाद में यू० पी० के शिक्षा-प्रसार आफिसर पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी और कलकत्ते में सेठ इन्द्रचन्द्र केजरीवाल—के लिए पत्र दिए। उनके इन पत्रों में मेरे प्रति उनकी आत्मीयता की ही नहीं, प्रशंसा की भी भावना छलक आई थी। कुँवर साहब ने अब की बार भी कुछ पुस्तकें खरीदीं।

२७ को लखनऊ का चक्कर लगा। वहाँ श्री दुलारेलाल भार्गव का आग्रह था कि मैं उन्हीं का काम करूँ। उनके इस आग्रह के लिए मैं उस क्षण हृदय से उनका कुछ कृतज्ञ हुआ था और उनके आग्रह के ढंग पर उनकी व्यवहारकुशलता का प्रशंसक भी। भार्गवजी योजनाओं और (अपने ढंग की) महत्त्वाकांक्षाओं के आदमी हैं। सारे हिन्दी-भाषी भारत पर उन्हें अपना व्यावसायिक साम्राज्य स्थापित करना है। इसके लिए उन्हे जनरल गोरिंगो की आवश्यकता है। लेकिन मैं उनका जनरल या सिपाही नहीं बन सकता हूँ, क्योंकि उन्हें अपनी महत्त्वाकाक्षाओं के सम्बन्ध में मनुष्यों के धन और मान को तोलना है और मुझे अपनी खोजों के सिलसिले में उनके हृदयों को छूना-परखना है। मेरी कमज़ोरी, मै उनसे साफ़ कुछ हाँ-ना नहीं कह सका।

२८ को वापस कानपुर। कानपुर में पहले दिन ही अबकी बार भी भाई माधोरामजी को अपना ग्राहक बनाया। जैसे हर बार उनके हाथों थोड़ी-बहुत बिक्री कर देने का मेरा अधिकार हो गया है। इसमें उनकी कुछ उदारता भी है, और इस उदारता के बदले मेरी क़ीमती—उत्तरोत्तर क़ीमती—कृतज्ञता पर उनका अधिकार भी है। मिस्टर लक्ष्मीप्रसाद कपूर ने, जिनका रंग का कारखाना है, दो पुस्तकें, डेलकारनेगी वाला 'लोक-व्यवहार' और सन्तरामजी की 'मानसिक आकर्षण द्वारा व्यापारिक सफलता' खरीदीं। मिस्टर कपूर एक

सु-स्वभाव और मिलनसार नवयुवक हैं और उनकी सुरुचि भी मनो-विकासप्रिय और नवयुवकोपयोगी है। इनके पिताजी की नवयुवकों के शिक्षण में अच्छी रुचि है। यह कपूर-परिवार मेरी कानपुर की पहली फेरी से ही मेरा ग्राहक है। लाला शंकरलालजी अत्तार भी एक शिक्षा-प्रेमी और पहले से ही मेरे ग्राहक हैं। अबकी उन्होंने जल्दी-जल्दी में सिर्फ एक छोटी-सी बालोपयोगी किताब खरीदी और इसके लिए भी मैंने उन्हें धन्यवाद दिया। उनका सौदा पैसे में नहीं, तो व्यवहार में अवश्य काफी बड़ा था।

फतेहपुर की कोई लिखने लायक खास बात नहीं रही। और वैसे लिखने लायक—लिखते बने तो लिखने लायक—प्रतिदिन आधा दर्जन भेंटें, एक दर्जन सम्पर्क और डेढ़ दर्जन नोट्स निकल सकते हैं। अपने घर के प्रियजनों को तो मुझे इस सिलसिले में करीब करीब छोड़ ही देना पड़ता है। उनमें भी अनेक के कितने विशिष्टतापूर्ण चित्र खींचे जा सकते हैं। फतेहपुर में अपने इन आदरणीय प्रियजनों के स्नेह, सत्कार और उनकी गुण-ग्राहिणी प्रवृत्ति की मैं चर्चा करूँ तो वह एक सुन्दर-सी चीज़ हो।

फतेहपुर में बिजिनेस इतना किया कि अपने मित्र भगवतीसहाय जी वकील को 'नोंक-झोंक' का ग्राहक बनाया और कुछ पुस्तकें उनके हाथ बेचीं। १ तारीख़ को बहुआ जाकर अपने पहले के ग्राहक कुँवर रणवीरसिंह जी के हाथों कुछ पुस्तकें बेचीं। अब की बार उनके पिता ठाकुर बद्रीसिंह जी के भी दर्शन हो गये। मैं उन्हें प्रणाम करने उनके पास तक चला गया। मैंने बताया कि मैं पिछले महीने उन्हें अपना ग्राहक बना गया हूँ और फिर आया हूँ। 'आपने बड़ी कृपा की' उन्होंने सहज साधु-भाव से कहा और मैं,—अब सोचता हूँ, अकारण ही—अपनी इस 'कृपा' पर कुछ सङ्कोच-सा करता हुआ—रणवीर जी के पास पुस्तकें दिखाने के लिए लौट आया।

आज फतेहपुर से इलाहाबाद।

५-१०-४१

इलाहाबाद में कुछ बिक्री नहीं हुई—बेचने का मैंने समय ही नहीं रक्खा। २ तारीख को यू०पी० के शिक्षा-प्रसार आफिसर पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी से भेंट की। दारागंज में चतुर्वेदीजी का मकान एक नये पहुँचनेवाले के लिए थोड़ी-थोड़ी करके काफी दूरी पर मिलनेवाला मकान है। लेकिन वहाँ पहुँचने में असुविधा ज़रा भी नहीं होती, क्योंकि मुहल्ले का हर एक छोटा-बड़ा उनका घर जानता है। कैसे जानता है? मैं यह तो विश्वास नहीं कर सकता कि वह अपने मुहल्लेवालों को अक्सर दावत दिया करते हैं, लेकिन यह अनुमान मुझे अवश्य हुआ है कि उनके बड़प्पन की धाक उतनी नहीं, उनकी लोकप्रियता ही इसका प्रमुख कारण है।

मुझे मालूम हुआ था कि वे पिछले दो-तीन सप्ताह से बीमार थे और अब स्वस्थ हो रहे थे। ठाकुर यमुनाप्रसाद सिंह जी के दिये हुए इंट्रोडक्शन लेटर को ही मैंने अपना विज़िटिंग कार्ड बनाकर उनके पास भेज दिया। तुरन्त ही उन्होंने मुझे बुलवा लिया। चतुर्वेदीजी का टाइफाइड बुखार दो ही एक दिन हुए छूटा था। वह कमज़ोर थे। अपने पलँग पर लेटे-लेटे, अपनी आँखें बाँह से ढाँपे हुए, उन्होंने काफी देर तक मेरे और मेरे व्यवसाय के सम्बन्ध में बातचीत की और मैंने अनुभव किया कि मैं एक ऐसे व्यक्ति से बात कर रहा हूँ जिसके लिए हरेक का मामला, हरेक का हित, अपना निजी मामला और निजी हित है। दूसरे दिन फिर मैं उनसे मिला। मेरे साहित्यिक और व्यावसायिक कार्य-क्रम के सम्बन्ध में वह मुझे सलाह देते रहे। बीच में दो मिनट की छुट्टी माँगकर (मुझे कहना चाहिए, देकर) वह खाना खाने गये और चार मिनट बाद वापस आ गये। खाना खाने के लिए दो मिनट की छुट्टी जायज़ तौर पर सोलह मिनट की छुट्टी समझी जा सकती थी। "पन्द्रह दिन से खाना न खाते खाते खाने की आदत ही छूट गई है" उन्होंने

लौटकर कहा और मैंने सोचा कि शायद ऐसे ही किसी भय से वह बीमारी और कमज़ोरी में भी काम करना नहीं छोड़ते। वह स्थूलकाय स्टालिन की मोटी किताब देखते रह सकते हैं, हवाई जहाज़ वाले पोस्टर की चित्रकारी में आर्टिस्ट को सलाह दे सकते हैं, और बढ़ई का किया हुआ काम देखने के लिए बिस्तर से उठकर कमरे के छज्जे तक जा सकते हैं और मुझ-जैसे किसी भी मेहमान की यथोचित सहायता करने का भार भी सहर्ष स्वीकार कर सकते हैं।

इलाहाबाद आने पर मेरा पहला धर्म होता है श्री विजय वर्मा से मिलना। अपनी कालिज या स्कूल की शिक्षा के बाद जब से मैंने कुछ लिखना-पढ़ना सीखा तभी से यह मेरे परिचित हैं और मुझे इस दिशा में आगे बढ़ाने का—लाने का भी—श्रेय इन्हीं को है। वर्मा जी ने ही पहले-पहल मेरी कहानियाँ उन दिनों अपने सम्पादन में निकलनेवाली 'सहेली' में प्रकाशित कीं, उन्होंने ही उन्हें पहले-पहल खोजा, अपनी परख में कुछ होनहार पाया और अपनाया। वर्मा जी हिन्दी की कई पत्रिकाओं के जन्मदाता तथा सम्पादक रहे हैं और एक अच्छे औपन्यासिक हैं। मैं देखता हूँ, उन्हें मेरा पक्ष है; फिर मैं उनके सम्बन्ध में अधिक कह ही कैसे सकता हूँ। लेकिन अगर यह पक्ष लेना (पक्षपात करना नहीं) गुण नहीं है तो भगवान् में भी कोई ख़ास, कारआमद गुण नहीं है। अपने चिरपूज्य विद्यागुरु स्वर्गीय पं० बलदेवप्रसाद शुक्ल के बाद वर्माजी का ही मै आजीवन ऋणी हूँ। अपनी वर्तमान कार्य-प्रवृत्ति में भी मुझे उनका क्रियात्मक प्रोत्साहन मिल रहा है और वह मुझे एक विकासपथ पर आगे बढ़ता हुआ पा रहे हैं।

तीसरी को मोहनजी से मिला। मोहनजी यानी हिन्दी के आशुकवि पं० जगमोहननाथ अवस्थी। फतेहपुर हाईस्कूल में वह मेरे स्कूल-फेलो थे, सम्भवतः दो या एक साल मुझ से सीनियर थे। वहाँ मेरा उनका परिचय था, लेकिन नहीं के बराबर। स्कूल जीवन से ही उन्होने

कविता-सरस्वती की आराधना प्रारम्भ कर दी थी और मै—मैं शायद अपने इस दूरवर्ती बुकसेलरी के जीवन की तैयारी में लग गया था। मैं अपनी मंजिल पर आ पहुँचा हूँ और वह अपनी मंजिल से—उस में काफी आगे निकलकर भी—अभी दूर हैं; क्योंकि मैं पुस्तकें बेचने लगा हूँ और उन्होंने अभी तक कोई पुस्तक नहीं लिखी*। लेकिन वास्तव में उनकी किसी भी तत्काल दिये हुए विषय पर एक्सटेम्पोर—धाराप्रवाह—कविता-पाठ ही उनकी अनूठी चमत्कारमयी प्रतिभा है और उसकी ख्याति के लिए लिखी-छपी पुस्तक अनिवार्य नहीं है, भले ही यह एक चयन-प्रिय बुकसेलर के लिए थोड़े-से घाटे की बात हो।

मोहनजी से मेरा परिचय अभी कोई साल भर हुआ नया हुआ है। मैंने देखा है, उनके स्नेह-सत्कार-भाव में प्रायः आदर से बढ़कर आत्मीयता की ही भावना आगे रहती है। मोहनजी के कमरे का वातावरण सरस साहित्यिक रहता है और कोई भी रसिक राहगीर उन्हें अपना मेजबान बनाकर प्रसन्न हो सकता है।

और वह गोपेश। वह एक नवयुवक भावुक कवि है। उसके स्वर में पौरुष और यौवन तथा रूप मे लावण्य मैंने देखा है। गोपेश ने माँगीं लेकिन मैंने उसे उन दो में से एक भी पुस्तक भेंट नहीं की। अच्छा, अब मैं उसे एक पत्र यों लिखूँगा—

प्रिय गोपेश,

मैंने तुम्हें उन दोनों पुस्तकों में से एक भी भेंट नहीं की। लेकिन तुम जानते ही होगे, हरेक चूमने लायक लड़की न तो चूमी ही जाती है और न चूमी ही जा सकती है। मैंने चाहते हुए भी पुस्तक तुम्हे भेंट नहीं की। वैसे तुम्हारे मोहक व्यक्तित्व ने मुझे आकर्षित किया है। ख़ैर, अभी तो हम कभी फिर भी मिलेंगे।

तुम्हारा

......

---

* अब उनकी कई पुस्तके प्रकाशित हो चुकी हैं।

अभी बात बहुत बासी नहीं हुई इसलिए फतेहपुर-निवासी, ध्यान अनुमान और कल्पना से परे उस व्यक्ति का चित्र भी यथाशक्ति खींच ही लिया जाय जिसने १ तारीख़ की रात को मेरी अटैची से मेरी सहज-सुलभ चाबी के सहारे २३ में से ८ रुपये के नोट निकाल लिये। बहुत सम्भव तो यही है कि उसने (उसी लिफाफे में कलकत्ते के वापसी टिकट की मौजूदगी पर भी) छोड़े हुए पन्द्रह रुपये मेरे लिए आवश्यक समझे हों और यह भी सम्भव है कि उसने लिये हुए आठ रुपये से ही अपना काम चला लेने का हिसाब लगा लिया हो। दोनो दशाओं में मैं तो उसका कृतज्ञ हूँ—या तो उसकी उदारता और पर-सुविधा-ध्यान का, या फिर उसके संतोष-संयम का।

आठ रुपये! मेरे वेचारे बुकसेलर के लिए वह भी बहुत होते हैं। अभी इस फेरी में कुल छः रुपये की कमाई हुई थी और इसी के भीतर ख़र्च चलाया गया था, बड़ी किफायत कर-करके। ४ को सबेरे जब नोटों का लिफाफा खोलने पर इस चोरी का समाचार सामने आया तो आध घंटे के लिए मोहनजी के साथ साहित्य-चर्चा करने को जाने का मज़ा किरकिरा हो गया। आठ रुपये में आध घंटे को मज़ा किरकिरा। और अगर कलकत्ते के सौदे में पाँच सौ रुपये की आमदनी हो जाय तो! उस रात की मीठी नींद और अगले प्रभात की एकान्त उपासना मे कितना विघ्न न पड़ेगा। ख़ैर, मेरा अभी उतनी तेज़ी से इनके ऊपर न उठना ही स्वाभाविक है।

आज इलाहाबाद से बनारस।

८-१०-४१

बनारस में मोहन जी के पत्र ने श्री विट्ठलदास का मुझे मेहमान बनाया। उन्होंने मेरा बड़ा आदर-सत्कार से लिया। ख़ातिर भी ख़ूब की। विट्ठलदास जी एक बड़े पुस्तक-प्रकाशक और विक्रेता, पुस्तक-भवन काशी के अध्यक्ष हैं। उनका हिन्दी टाइमटेबिल भी बड़े पैमाने पर अपने ही टाइमटेबिल प्रेस से निकलता है। विट्ठलजी और भी कई

तरह से, जैसा कि उन्होंने स्वय भी कहा, 'बहुधन्धी' हैं। हिन्दी के अच्छे-अच्छे साहित्यिक उनके मित्र और अतिथि होते हैं। विट्ठलजी की सहायता से मेरी कुछ पुस्तकें भी बनारस में बिकीं। विट्ठलजी की मिलनसारी किसी भी व्यक्ति को प्रभावित कर सकती है।

बनारस में चलते-चलाते, धोखे से, राह भूलकर एक और प्रियजन-परिवार के बीच जा पहुँचना हुआ। एक दिन और मुझे बनारस रुकना पड़ा और उनके घर से चलते समय 'शुभ्रा' की एक प्रति पर मैंने प्रसन्नतापूर्वक लिखा—

'भाभीजी को सादर भेंट'।

यह श्रीयुत और श्रीमती महेशलाल वर्मा का घर था। भाई महेशलाल रेलवे अस्पताल के डाक्टर हैं। मेरा इनका पहले का कोई परिचय नहीं था।

और आज यह कलकत्ता है—अपने प्रियजन मिस्टर और मिसेज प्रेमसरनदास का मकान। सबेरे सात बजे (और कलकत्ते की हुकूमत के हिसाब से आठ बजे) कलकत्ता पहुँचा हूँ और अपने प्रसन्न प्रियजनों के साथ आराम से ठहरा हूँ। बादल की घटाएँ और पानी की झड़ियाँ इस समय, शाम के पाँच बजे तक, रुकी नहीं हैं और मुझे भी आज इतना लिखने-पढ़ने के बाद अब आराम ही करना है।

९-१०-४१

कलकत्ते की सैर शुरू है। हाथ का बोझ यानी अपनी अटैची रखने के लिए ठाकुर अयोध्यासिंह जी का विशालभारत बुकडिपो सुभीते की और बीचोबीच की जगह है। ५२ ज़करिया स्ट्रीट के केजरीवाल हाउस में सेठ इन्द्रचन्द्र केजरीवाल से भेंट की। इस पहली भेंट मे उनकी कोई ख़ास बात मुझे चुभी-जँची नहीं, सिवाय इसके कि वह मेरे अनुमान के विपरीत एक इकहरे और ठिगने बदन के मारवाड़ी सेठ निकले, चलने और टेलीफोन पर बात करने में (कम से कम उस केजरीवाल हाउस के-से राजसी भवन में) एक अदादार

युवराज-से जान पड़े। ठाकुर यमुनाप्रसाद सिंह जी की चिट्ठी पढ़कर उन्होंने पूछा, 'आप कब आये ?' और 'कहाँ ठहरे ?' और दोनों प्रश्नों के मैंने यथाक्रम उत्तर दिये, 'कल' और 'भवानीपुर में अपने एक मित्र के घर'। अब सोमवार या मंगल को उनसे फिर मिलना है।

दूसरी भेंट की १०५ काटन स्ट्रीट में सेठ शिवभगवान बावूना से, कलकत्ते मे नेशनल लिटरेचर कम्पनी के और बनारस के पास किसी दाल मिल के मालिक। इनकी भी यह भेंट मेरे अंकनप्रिय मन के लिए ज़रा कोरी ही रही, लेकिन बिलकुल कोरी नहीं—उनकी सादगी, सुलभता और फ़ुर्सतमंदी से मैं चौंका नहीं, तो, कह सकता हूँ, कुछ प्रसन्न अवश्य हुआ। श्री विजय वर्मा का पत्र पढ़कर उन्होने भी वे ही प्रश्न किये 'आप कब आये ?, कहाँ ठहरे हैं ?' और मैंने दोनों प्रश्नों के उत्तर दे दिये। शेष बातचीत के लिए उनसे कल मिलना है।

और तीसरी खोज की श्री भँवरमल सिंघी की। आज कलकत्ते में मुझे यही सबसे अधिक दुर्लभ जान पड़े और दो-तीन जगह दो-दो तीन-तीन बार चक्कर लगाने पर भी नहीं मिले। आज अपने आफिस ही नहीं आये। भँवरमल सिंघी—मुझे याद पड़ता है, मैंने इनके किसी-किसी गद्यगीत को दोबारा भी पढ़ा है और मैं चाहता हूँ कि कल मिलने पर यह उसी की तरह सुन्दर निकलें।

११-१०-४१

बावूना जी से परसों के बाद कल और आज और मिलकर आज से उनसे मिलने-जुलने का सिलसिला खत्म कर दिया। उन्होंने मुझमें कोई दिलचस्पी नहीं ली—बहुत सी सुविधाएँ देकर मुझे अपनी नेशनल लिटरेचर कम्पनी का विशेष प्रचारक नहीं बनाया; यह क्या, एक प्याली चाय के लिए मुझे अपना मेहमान भी नहीं बनाया। (उनके एक सहकारी ने तो ख़ैर एक बार चाय के लिए मुझे पूछा भी था) इसलिए मैं कह सकता हूँ कि वह बुरे नहीं तो कोई अच्छे आदमी भी नहीं हैं, लेकिन यह ख़ुद बतौर एक बे-अच्छे आदमी के (ही कह सकता हूँ)।

वैसे, मैं नहीं देखता कि क्यों वह मुझे विशेष सुविधाएँ देकर अपना विशेष प्रचारक या कनवेसर बनाते। मैं अच्छा तो क्या, औसत दर्जे का भी कनवेसर नहीं हूँ। कोई कारण नहीं था कि वह मुझे चाय के लिए पूछते। मैं उनके सामने किसी बार भी कोई ख़ास आदमी नहीं था, मैं स्वयं इस बात का गवाह हूँ, मैंने उसके सामने अपने आपको एक क्षण के लिए भी महत्त्वपूर्ण (Important) अनुभव नहीं किया, फिर वह ही क्यों करते ? तीन दिन तक मैंने औसतन डेढ़ घंटा रोज़ उनकी कोठी की हाज़िरी देने में खर्च किया। ऐसे कौन-से बड़े-बड़े मसले तय करने थे ? "सेठजी, मैं चाहता हूँ, आप मुझे ख़ास तौर पर अपनी सेवा करने का मौका और उसके लिए कुछ विशेष सुविधाएँ दें" मैंने कहा और स्वयं ही अनुभव किया कि मेरे इस कहने के ढङ्ग में न कोई ललचानेवाली चीज़ थी और न हुकूमत ही करनेवाली। "आप हमारी पुस्तकों का प्रचार कीजिए; हम आपको ३३⅓ प्रतिशत कमीशन देंगे" उन्होंने कहा। एजेंटों के लिए यही उनका रेट था। इससे अधिक वह मुझे कुछ और नहीं दे सकते थे, और दे भी क्यों सकते ? ख़ैर, वह भी मुझे मञ्जूर था। अब जितनी किताबें मैं उनकी लेना चाहूँ उनके दाम या उसके लिए ज़मानत मुझे जमा करनी चाहिए, उन्होंने मुझे बतलाया। 'सो नहीं दे सकूँगा, पर्सनल सिक्योरिटी ले लीजिएगा ?' मैंने कहा। "हाँ ले लेंगे, ठाकुर श्रीनाथसिंह की" उन्होंने कहा। "उनका मेरा तो कोई परिचय नहीं है" मैंने बताया। "तो फिर" दूसरे दिन मैंने कहा— "जितने दाम की किताबें आप मुझे दें उतने दाम का विज्ञापन 'नोक-झोंक' में दे दीजिए, मैं छपवा दूँगा और उतने दाम की रसीद नोक-झोंक कार्यालय की मुझसे ले लीजिए।" बात नहीं पटी। मैंने देखा, बेकार ही नहीं, मेरी ये बातें काफ़ी बेढङ्गी भी थीं। मैं मन में बिना किसी आग्रह के भी, अपने को भूलकर इनके पीछे पड़ा हुआ था। ऐसा भी अक्सर हो जाता है।

लेकिन बाबूना जी एक अच्छे आदमी हैं, मुझे मानना पड़ा है। नेशनल लिटरेचर कम्पनी की स्थापना उन्होंने पैसा कमाने की ही ग़रज़

से की हो, यह नहीं हो सकता। उनकी साहित्य में रुचि भी है। पैसा कमाने के लिए तो इससे बहुत अच्छे और भी व्यवसाय हैं और बाबूना जी के कारबार में पहले से ही कई एक शामिल हैं, जैसे दाल की मिल, केमिकल वर्क्स, सोने-चाँदी का कारबार वग़ैरह। उनमें शोभा (Grace) भी है, जिसे कोइ भी आदमी उस समय बहुत साफ तौर पर देख सकता है जब वह अधिक पूरी पोशाक पहने हुए (यानी बनियाइन के ऊपर कुरता भी पहने हुए) अपने आफिसवाले कमरे के बरामदे में एक सुन्दर बच्चे को वहाँ पड़ी हुई बेंच पर चढ़ाते और उससे फिर नीचे कुदाते हुए उससे खेलते होते हैं।

कलकत्ते में आगरे के अपने देखे हुए भारतभूषण अग्रवाल 'सरोज' से भी भेंट हुई। आगरे मे अपने पहले सामाजिक साहस का प्रयोग मैंने इन्हीं पर किया था जब कि एक साहित्यिक समारोह की समाप्ति पर उत्सवगृह से बाहर जाते हुए मैंने पीछे से इनका हाथ पकड़कर उस उत्सव में सुनी हुई इनकी कविता और इनके कण्ठ की प्रशंसा में कुछ कहा था। उस समय कृतज्ञता या प्रसन्नता जतलाने के बदले यह मुझसे रूखे और संक्षिप्त बनकर ही पेश आये थे और मुझे उदास हो जाना पड़ा था, लेकिन यहाँ कलकत्ते में मिलने पर स्नेह और सत्कार से पेश आये और इनके भीतर आत्मीयता की भावना को मैंने छलकते देखा। वास्तव मे मनुष्य प्राय: उतना पराया या रूखा नहीं हुआ करता जितना वह कभी-कभी दीख जाता है और वैसा दीखने का कारण अक्सर देखनेवाले की स्वार्थपरता या कोई अपनी कसर ही हुआ करती है।

और कलकत्ते में ही, एक बुकसेलर आया हुआ है। यहाँ अपनी अब तक की कार्यवाही के अनुसार वह न एक किताब ही बेंच सकता है, न किसी अख़बार का एक ग्राहक ही बना सकता है; नतीजा यह कि वह एक भी पैसा नहीं कमा सकता। वह ज़रा अधिक सीधा-सा, निरुद्यम, निरुत्साह-सा, अचञ्चल और भारवाही-सा है। बात और

कनवेसिंग कर लेने का दम उसमें बहुत कम है। अपनी इस परिस्थिति के बोझ में वह दबा-सा, सहमा-सा रहता है। अपनी सहायता के लिए वह कभी-कभी अपनी थियासोफी, अपनी सहृदयता और प्रकृति की सहृदय विधानमयता के रहस्योद्घाटनों की राह देखने लगता है। लेकिन उसके मानसिक उल्लास की कभी-कभी उठनेवाली मुद्राएँ (Moods) ही नहीं, उसके भीतर से उठनेवाली प्राणभरी-सी एक प्रेरणा भी कभी-कभी उसे सतेज कर जाती है और उसके भीतर से एक देवत्व-सा चमक उठता है। शायद वह कुछ बड़ा, कुछ अच्छा या कुछ विशेष-सा होने जा रहा है। तो फिर, मुझे उसके बोझ-भरे उदासीनता के क्षणों में अक्सर कुछ सहारा दे देने का प्रयत्न कर देना चाहिए। अब आज तो रात बहुत हो गई है, कल से मुझे उसका कुछ ध्यान रखना ही होगा।

१७-१०-४१।

अगर मेरी फेरी की परिभाषा हो अपरिचितों के दरवाजे-दरवाजे जाकर किताबें बेचना (और करीब-करीब यही परिभाषा उसकी है ही) तो कलकत्ते में कोई फेरी नहीं लगी। हिम्मत ही नहीं की; सोचा, बङ्गालियों का शहर है, अक्सर लोग कह दिया करेंगे "बाबा आमी हिन्दी की जाने", और मेरी मेहनतें बेकार जायँगी। कलकत्ते के लिए वह ढङ्ग उपयोगी और बचत देनेवाला भी नहीं होता।

तो फिर यहाँ एक ही गाहक बनाया—सेठ इन्द्रचन्द केजरीवाल को। ९ को उनसे मिला था, फिर १३ को और तब से कुछ-एक बार और। पहले दिन उनकी चाल (चलन नहीं) और टेलीफोन-संचालन ने मुझे प्रभावित किया था और दूसरे दिन तीन और बातों ने।

पहली यह कि उनके एक सेक्रेटरी है। ऐसे बड़े आदमियों से मिलना जिनके कि सेक्रेटरी भी हो, मेरे लिए अभी तो बड़े गौरव की बात है। मैंने चाहा कि मैं भी कभी किसी बड़े आदमी का सेक्रेटरी होऊँ और अगर यह न हो सके तो कम-से-कम मेरा ही कभी कोई सेक्रेटरी हो।

दूसरी यह कि उनके केजरीवाल हाउस में एक लिफ्ट है जो उनके विज़िटर्स—दैनिक और अदैनिक भेंट करनेवालों—को हाउस की चौथी मञ्ज़िल में पहुँचा देती है (इसी मञ्ज़िल में सेठ जी का ड्राइंग या विज़िटर्स रूम है) और भेंट हो चुकने के बाद उन्हें निचले आँगन पर उतार देती है। लिफ़्ट से ऊपर जाते हुए रास्ते में मैं सोच रहा था कि लिफ़्ट पर सवार होकर किसी से मिलने जाना कितनी शानदार बात है और जो व्यक्ति मुझे ऊपर ले जा रहा था—मैं उसे अपना पाइलट कहना चाहूँगा—मुझसे पूछ रहा था, "कुछ बेचते हो ?" और मैं बहुत प्रसन्न-सा उत्तर दे रहा था, "हाँ, किताबें, अखबार।" उसकी आशीर्वाद भरी-सी आँखें कहने लगीं थीं, "जाओ बच्चा, तुम्हारा भी कुछ काम बन जाय, इस दरबार में तुम जैसे बहुतेरों का कुछ न कुछ काम बनता ही रहता है" और मैंने कृतज्ञ होकर मन ही मन उत्तर दिया था, "दादा, तुम बहुत अच्छे आदमी हो।"

और मुझे प्रभावित करनेवाली तीसरी चीज़ रही सेठजी की—कैसी कहूँ ?—आदर-पूर्ण से अधिक आदरप्राप्त मुस्कान। यहाँ मेरे लिए अब एक कठिनाई उत्पन्न होने लगी है। जितने अच्छे और विशेष व्यक्तियों से मैं मिलता हूँ उनमें प्रायः यह मुस्कानवाला गुण पाया ही जाता है और इस व्यापक-से गुण का, एक ही जातिवाचक रूप में, हरेक पात्र की चर्चा करते समय, उल्लेख करना (मुस्कराहट का उल्लेख करना, उनका मुस्कराना नहीं) एकरस (Monotonous) होकर विरस-सा हो जाता है। इस विरसता से बचने के लिए मुझे सम्भवतः किसी मुस्कान-भेद के शास्त्र का गहरा अध्ययन करना पड़ेगा।

सेठ जी का कमरा बहुत सजा हुआ और साफ़-सुथरा था। वहाँ हर चीज़ कीमती थी। सेठ जी से बातचीत हुई। उनके साथ आपसी की-सी बातचीत करके मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। ठाकुर यमुनाप्रसाद सिंहजी का जो पत्र मैं उन्हे पिछली बार दे गया था, उसकी उन्हें पूरी याद थी। सेठ जी के पूछने पर मैंने बतलाया कि वह मेरे लिए

क्या-क्या कर सकते हैं। जो हो सकता था, उन्होने सहर्ष किया। "लेख छपें और उनके दाम आपको मिलें—तो यह दाम अखबारवाले ही देंगे न?" "हाँ-हाँ, अखबारवाले ही तो" मैंने उत्तर दिया और उनके उस प्रश्न के साथ कहीं से कुछ दबाव-सा पाकर उकसने को उद्यत उनकी उदारता को मैंने प्रशंसा से नहीं तो कृतज्ञता के साथ अवश्य देखा। मैं इस बात का माननेवाला हूँ कि पैसेवाला होना भी बड़प्पन का एक अच्छा प्रकार है।

फलाँ और फलाँ दैनिक और साप्ताहिक अखबारों के नाम लेकर सेठ जी ने कहा "वे हमारे अपने ही लोगों के अखबार हैं, उनको हम कह सकते हैं और अगर फलाँ साप्ताहिक व मासिक के मालिक बाहर न गये हो तो उनको भी चिट्ठी दे सकते हैं" सेठजी ने कहा। मैंने उन्हें बतलाया कि पहले दोनो पत्र उन लेखो के लिए उपयोगी नहीं होंगे और तीसरे पत्र के लिए भी मुझे उन्हें अभी कष्ट नहीं देना पड़ा क्योंकि उसके मालिक बाहर गये हुए थे।

"नोक-झोंक के इतने-इतने ग्राहक तो हम बना देंगे" कहकर उन्होने कलकत्ते का काफी बड़ा बोझ मेरे सर से उतार लिया। ग्राहक उन्होंने बनवाये भी। पुस्तकों का ग्राहक भी तो दूसरा कोई ढूँढ़ना कलकत्ते में मेरे लिए कठिन काम था। "आपको भी तो पुस्तकों का शौक है?" मैंने पूछा। "हाँ, हाँ क्यों नहीं! परसों मैं आपको अपने सेक्रेटरी से मिला दूँगा, किताबें खरीद ली जायँगी" उन्होंने कहा और निश्चित दिन सेक्रेटरी साहब ने कुछ पुस्तकें और साल भर के लिए दो मासिक पत्र खरीद लिये। मैंने देखा, यद्यपि जरा दूर से ही, केजरीवाल होम-लाइब्रेरी एक अच्छी-सी छोटी लेकिन अमीर लाइब्रेरी है।

सेठ जी से मुझे कलकत्ते मे बहुत सुभीता और सहारा मिला, जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। सेठ जी की साहित्यिक रुचि का और इससे भी अधिक उनके सजे सुथरे राजसी भवन का मैं प्रशंसक हूँ और अगर किसी अगली बार उनके घर आकर मैं देखूं कि उनके घर का निचला

आँगन भी शेष सारे घर के अनुकूल जरा और साफ रहने लगा है और हर मंजिल के छज्जों से लटककर प्रतिदिन सूखनेवाली साड़ियों के लिए भीतर ही कहीं प्रबन्ध हो गया है तो मै समझूँगा कि मेरे ही जैसे किसी छोटे से उपकृत व्यक्ति की शुभ कामना उन्हे फल गई है और उनकी कुछ और तरक्की हो गई है।

सेठजी के सेक्रेटरी श्री रघुवीरनारायण ओझा की चर्चा किये बिना यह प्रकरण अधूरा ही रहेगा। उन्हें घर के बच्चे मास्टर जी कहते है। साहित्य-प्रेमी हैं। छोटे-से विनोद और मनोरञ्जन से भी यथेष्ट लाभ उठाना जानते हैं। अँगरेजी, हिन्दी, बिहारी, बङ्गाली—कम से कम चार भाषाओ के ज्ञाता हैं। उनकी व्यवहार-कुशलता और सज्जनता देखकर मुझे ऐसा लगा कि रामगढ़ स्टेट के महाराज—पता नहीं उनके सेक्रेटरी ही बिहार-वासी है या उनकी रियासत भी बिहार ही की है—सेठ इन्दरचन्द केजरीवाल के साथ सेक्रेटरी की अदला-बदली कर लें तो घाटे में न रहे।

तारीखें याद नहीं, हर्ज भी कुछ नहीं। उस दिन इतवार ही तो था—तो फिर १२ तारीख थी। अपने एक सम्मानित मित्र के साथ ओरियंटल गर्ल्स स्कूल ऑफ़ म्यूजिक में लड़कियों का नृत्य-सङ्गीत देखा। बड़ी प्रसन्नता हुई। अगर इस स्कूल की लॉगबुक तक मैं पहुँच सकता तो उस पर संचालकों के लिए लिखता—"आप इस जेनरेशन (नवयुग) के हार्दिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। जिस समाज और जिस-जिस समाज-वासी के लिए आप इन सुन्दर कलियों मे सुगन्ध भर रहे हैं, उन सबकी ओर से मैं आपको धन्यवाद देना चाहता हूँ। हमारे समाज को अगर विकसित होना है तो मैं समझता हूँ, आज नहीं तो कल अवश्य वह सामूहिक रूप मे आप-जैसो की सेवाओं की कद्र करेगा। भगवान् करे, आप जितना अच्छा काम कर रहे हैं उसे उतना ही अच्छा समझें, बनायें और बनाये रक्खें।"

और वह सुन्दरी बाला। मेरी सीट से डेढ़ फीट के फासले पर वह नाच रही थी। उसने और उसके मूक नृत्य ने मुझे मुग्ध किया था। वह अनजान थी, लेकिन मैं तो वैसा अनजान नहीं हूँ। उसके लेखे मेरी सीट संयोग-वश उसके पास पड़ गई थी और इसके लिए उसके मन में किसी भी दर्शक के प्रति कोई भावना आवश्यक नहीं थी। लेकिन मैं उतना अबोध क्योंकर रहूँ? मैं तो उसका प्रशंसक भी हूँ और उसका कृतज्ञ भी, और अगर वह मेरे जीवन के ९९वें वर्ष भी आकर इस दिन की याद दिलाकर मुझसे पूछेगी कि मैं उसका कुछ एहसानमंद हूँ या नहीं तो मैं उसके गाल पर एक हलकी-सी चपत लगाकर कहूँगा "हाँ-हाँ, उस दिन तुम्हारे नृत्य ने मुझे मुग्ध किया था और उसके लिए मैं अब तक तुम्हारा कृतज्ञ हूँ।"

जिन सम्मानित मित्र के साथ मैं इस क्लास में गया था वह हैं प्रोफेसर रामनारायण सिंह। कलकत्ते में पड़ोसी के नाते ही उनका मेरा परिचय हुआ। यह कलकत्ते के कई विद्यालयों में हिन्दी के प्रोफेसर हैं। ऊँचे क्षेत्रों में उनका अच्छा मेल-जोल है। सामाजिक प्रवृत्तियों में विशेष रुचि रखते हैं और अनेक संस्थाओं से उनका सम्बन्ध है। ऐसे सजीवहृदय व्यक्तियों से परिचित होना सुख और सौभाग्य की ही बात होती है। प्रोफेसर साहब की मुझ पर भी कृपा है और अपनी क़ीमती कृतज्ञता के बल पर मुझे उनसे अपनी यथोचित सहायता की भी (भले ही वह कुछ दिनों की भूल-भाल के बाद ही हो) आशा है। मेरी क़ीमती कृतज्ञता! जी हाँ, मैं जिनका कृतज्ञ होता हूँ, अपने बड़प्पन, भलेपन और अपनी आगामी प्रशंसा का कुछ न कुछ श्रेय उन्हें दे ही रखता हूँ।

अब यह है क्लाइवस्ट्रीट पर बङ्गालजूट सप्लायर्स ऐसोसिएशन का दफ्तर। श्री भँवरमल सिंघी इस ऐसोसिएशन के सेक्रेटरी हैं। कलकत्ता आते ही मुझे इनको दोस्त बनाने की बड़ी प्रबल इच्छा हुई थी। बड़ी मुश्किल से तीसरी या चौथी फेरी में इस दफ्तर में इनके दर्शन

हुए। इनके लिए मेरे पास श्री विजयवर्मा का एक पत्र भी था। मिले तो आदर-स्नेह से मिले। काम में व्यस्त बहुत थे। मेम्बरों की मीटिंग का वह समय था और अगले ही दिन उन्हें दौरे पर बाहर जाना था। श्री भगवतीचरण वर्मा के लिए उन्होंने मुझे एक पत्र लिख दिया कि नोक-झोंक के ग्राहक बनाने और किताबों की बिक्री में मेरी जो मदद कर सकते हो, करें। धन्यवादपूर्वक वह पत्र मैंने उनसे ले लिया, यद्यपि श्री भगवतीचरण वर्मा से मिलने के लिए मुझे उसकी ज़रूरत नहीं हो सकती थी।

मैंने देखा, सादा पहनावा, स्वर में एक लोच और मस्तिष्क पर धारण किया हुआ सेक्रेटरीत्ववाला उनका व्यक्तित्व एक गहराई तक पहुँचनेवाला व्यक्तित्व था, जो किसी गहरे दर्द में पला था और उसकी मिठासों का पारखी ही नहीं, अधिकारी भी था। सिंघी जी को उस समय शायद पता नहीं लगा लेकिन उनकी आँखें मुझसे—क्या हर्ज है, किसी शायर के ही शब्दों में सही—कह रही थीं—

दर्दे दिल जाने से लुत्फे जिन्दगी जाता रहा;
अब मुझे तकलीफ है, पहले बहुत आराम था।

लेकिन मैं समझता हूँ कि उनका दर्द गया नहीं, कहीं जरा छिप गया है और वह इनका पीछा छोड़नेवाला नहीं है।

इनके पास से उठकर एक दूकान में मैंने इनकी 'वेदना' देखी। चीज़ सुन्दर, गहरी और ऊँची है। विश्वकवि रवि ठाकुर का आशीर्वाद भी उसे प्राप्त है।

मैं चाहूँ तो इस व्यक्ति से प्रेम कर सकता हूँ, यह है ही इस लायक़।

साप्ताहिक 'विचार' के दफ़्तर में उस दिन जाकर मैंने उसके सम्पादक श्री भगवतीचरण वर्मा के लिए अपना एक विज़िटिंग कार्ड अँगरेज़ी में ड्राफ्ट किया और उसका हिन्दी अनुवाद वहाँ छोड़कर चला आया। अनुवाद इस प्रकार था—

नाम—(यहाँ पर मैंने अपना नाम लिखा)
एक ट्रैवलिंग बुकसेलर आगरा से।

काम—जो भी सहायता या सूचना आप मुझे कलकत्ते में मेरे व्यवसाय के सम्बन्ध में (यहाँ पर 'कृपा करके' शब्द छूट गया था) दे सकें।

और तीसरे दिन जाकर मैं उनके दफ़्तर में उनसे बातचीत कर रहा था। 'विचार' आफ़िस में अपने पहुँचने और उनके आने के बीच के समय में मुझे बतलाया गया कि वर्मा जी को मेरा वह विज़िटिंग कार्ड दे दिया गया था और यह कि उन्होंने कल मेरा इन्तिज़ार किया होगा। यह मेरे लिए एक अप्रत्याशित-सी सूचना थी। वह 'कार्ड' देते समय, न जाने क्यों मैंने सोचा था कि इसे पाकर वह ज़रा झल्ला उठेंगे और कहेंगे, "आखिर वह मेरे पास क्यों आवेगा, ख्वाहमख्वाह !"

ख़ैर तो उस दिन काफ़ी ख़ातिर के साथ उनकी मेरी बातचीत हुई। स्थानीय लाइब्रेरियों की एक लिस्ट उन्होंने मेरे लिए नक़ल करवा दी, ताकि मैं उन्हे गाहक-बनाने जा सकूँ।

उनसे बात करते समय मुझे दो-एक बार याद आई कि मैं साहित्य के एक बड़े उपन्यासकार और कवि से बात कर रहा हूँ और मैंने अनुभव किया (यह भी न जाने कैसे) कि उनका व्यक्तित्व बहुत अच्छा भी है और कुछ-कुछ कभी-कभी बुरा भी है। इस बुराई ने—और अगर उनमें कोई बुराई नहीं है तो बुराई की बू ने सही, जिसे शायद किसी कला-प्रदर्शन के अवसर पर किसी दूसरी जगह से भी लाया जा सकता होगा—मुझे उतनी देर उनके समीप प्यार से बाँध रक्खा। उनमें मैंने अपने लिए आत्मीयता, स्वजातीयता-सी देखी। 'बुरा' शब्द को मैं कोमल, कलामय और मधुर शब्दों का अक्सर पर्यायवाची मानता हूँ और वह पहला ही मुझे इन दूसरों से बहुधा अधिक प्रिय लगता है। जिसमें बुराई नहीं, उसमें कला, रसप्रियता और सहानुभूति हो ही क्या सकती है ! अच्छाई, अच्छाई एकदम अच्छाई ! मैं सोचता हूँ

वह कितनी भयङ्कर, कितनी रेतीली, कितनी अनात्मीय (Repulsive) सी चीज़ है, बेक़ार-सी, उसके पास कोई फटक ही कैसे सकता है।

लेकिन वर्मा जी में मैं ऐसी कौन सी बुराई देख रहा था, मैं कुछ नहीं कह सकता। कला, सिद्धान्त या वैसी किसी गहराई की मेरी उनसे बातचीत भी नहीं हुई। तो फिर मैं समझता हूँ कि मेरी पैनी निगाह के सामने उनके भीतर का कलाकार जागरूक हो उठा था, कुछ स्वयं जगा हुआ-सा और कुछ जगाया हुआ-सा।

वर्माजी में मैंने देखने को कोई बुराई नहीं देखी; लेकिन इतना मैं अवश्य कह सकता हूँ कि वह इतने सुन्दर नहीं हैं (कम से कम अब नहीं हैं) जितने अपने कविता-संग्रह 'प्रेम संगीत' के साथ छपे हुए फोटो में वह लगते हैं। वैसे उनका वह चित्र सौन्दर्य-प्रतियोगिता के लिए संग्रहणीय चित्रों में रक्खा जा सकता है। शायद उन्हें अधिक सुन्दर लगना और उनका कोई पोज़ सुन्दर खिंच जाय तो उसका खूब प्रदर्शन करा देना पसन्द है। यह बुरी बात है, लेकिन सुन्दर भी है, इसमें किसी को एतराज न होना चाहिए।

उनके साथ बातचीत के सिलसिले में 'पूजा' और 'शुभ्रा' की भी बात छिड़ गई। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि मैं पूजा और शुभ्रा नामक दो गद्यकाव्य पुस्तकों का एक तरह से सोल एजेंट हूँ और इस नाते उसके लेखक को अपना शिष्य-सम प्रिय समझता हूँ। वर्मा जी इन पुस्तकों के साथ इनके एकमात्र लेखक को अच्छा होते हुए भी एक क़रीब क़रीब बेकार और दुर्बल-सी चीज़ ठहराने ही जा रहे थे कि मैंने अपनी 'बुकसेलर की डायरी, की बात छेड़ दी। बातों के ही बीच यह बात आ पड़ी। डायरी देखनी शुरू की तो वह चीज़ उन्हें बहुत पसन्द आ गई, ज़ोरदार और उपयोगी जान पड़ी। मैंने इस प्रकार अपना कुछ प्रभुत्व-सा जमाकर अपने ही नाते अपने एक चहीते कलाकार की भी लाज बचा ली और वर्माजी के 'विचार' में एक पुरस्कृत लेखमाला के रूप में उस डायरी के प्रकाशन की भी बात तय

हो गई। मुझे अभी सुविधा न थी, लेख भी फ़ेयर करके उन्हें अभी नहीं दे सकता था इसलिए एग्रीमेंट नवम्बर में आगरे पहुँचकर भरा जायगा और तब प्रकाशन प्रारम्भ होगा।

१९-१०-४१

आज कलकत्ते मे मेरा आख़िरी इतवार है। यह एक स्वाभाविक-सी बात है कि लेखक की अपेक्षा बुकसेलर की रुचि पाठकों मे अधिक होती है। मतलब यह कि बुकसेलर पाठकों (आप उन्हे ख़रीदार कह लीजिए) मे बहुत रुचि रखता है। चूँकि पाठको मे सम्पादकों की भी बड़ी रुचि होती है, इसलिए किसी-किसी बुकसेलर का, जिसमें प्रतिस्पर्धा और रुकावट का भाव न हो, सम्पादकों में भी रुचि रखना जायज हो जाता है। अस्तु, कलकत्ता पहुँचने के दिन से ही मुझे 'जागृति' के सम्पादक हिमकर जी से मिलने की इच्छा थी और आज कलकत्ते के एक छोर सलकिया तक पहुँचकर मैंने उसकी पूर्ति की।

"हलो! हलो!! आइए! आइए!!" (मैं पञ्जाब के अख़बारी स्टाइल मे इक्सक्लामेशनो का प्रयोग करते हुए लिख रहा हूँ) हिमकर जी ने मुझे देखते ही पुकारा और उनके इस पुर-तपाक स्वागत से मैंने पहली बार जाना कि वह पञ्जाबी हैं। कमरे मे पहुँचते ही मुझे (और अगर पहले कुछ सन्देह हुआ होगा तो अब उन्हे भी) निश्चय हो गया कि हम दोनों एक दूसरे के कोई पूर्व-परिचित नहीं है। रेडियो बन्द कर दिया गया और बातें शुरू हुईं। जो नौकर मुझे उनके मकान के उस ऊपरी कमरे तक ले आया था उसी से उन्होंने मेरे लखनवी इनकारो की अवहेलना करके आठ कलकतिया रसभरे रसगुल्ले मँगाये। इतनी सब बातों के सामने मुझे एक बुकसेलर बने रहना एक वाहियात-सी बात जान पड़ी। एक 'शुभ्रा' मैंने उन्हें भेंट की और 'जागृति' में अपनी बुकसेलर की डायरी के प्रकाशन की बात चला दी। "मैं ख़ुशी से छापूँगा, लेकिन सबसे पहला मेरा सवाल यह है कि आप लेंगे क्या?" "बीस रुपये हर महीने के" मैंने

कहा। "यह तो बहुत ज़्यादा है" उन्होंने कहा। "तो ख़ैर, इस मामले को फिर देखेंगे, लीजिए आप भी रसगुल्ले खाइए" मैंने कहा, और हिमकर जी ने एक या दो रसगुल्ले बड़ी मुश्किल से खाये।

हिमकर जी ने बतलाया कि वह सोसाइटी से अलग-अलग ही रहते हैं। मुझे इस पर अधिक आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि ऐसे जिन्दादिल नवयुवक साहित्यिकों का अलमस्त होना भी स्वाभाविक ही है। हिमकर जी की मेहमानी का वह एक घंटा मेरा बहुत मजेदार बीता। 'जागृति' का एक विशेषाङ्क भेंट-स्वरूप लेकर और ढाई रुपये फी पेज या फी कहानी के हिसाब से 'जागृति' के लिए कहानियाँ भेजने का वादा ले-देकर मैंने उनसे बिदा ली। मैं चाहता हूँ कि कभी लाहौर जाऊँ तो वहाँ भी कहीं मेरा इसी तरह का सत्कार हो।

२२ १०-४१

कल कलकत्ता छोड़ा और आज यह बनारस है। सेविन ए. गोखले रोड से एलगिन रोड के उस बस ट्राम ठहरने के अड्डे तक—वह फर्लाङ्ग डेढ़ फर्लाङ्ग का फासला है—जो कुली मेरा बिस्तर-बक्स लाया था उसकी इकन्नी का मैं सम्भवतः अब तक कर्जदार हूँ। अड्डे पर बस-ड्राइवर की जल्दी-जल्दी में जैसे-तैसे मैंने सामान गाड़ी में रखवाया और गाड़ी के भीतर मेरे पैर रखते ही बस हवा! कुली की मेहनत का एक आना मैं नहीं दे सका। बेचारा वह! क्या कहता होगा ग़रीब! शायद यह कल उसकी पहली ही मजदूरी रही हो। उसे अपने इस व्यावसायिक घाटे का किसी भी बड़ा घाटा उठानेवाले बड़े व्यवसायी की तरह दुःख हुआ होगा। मुझे भी उसने एक बहुत बुरा आदमी समझा होगा। लेकिन मैं वैसा बुरा तो नहीं हूँ। फिर भी मै बहुत अच्छा भी नहीं हूँ, उतना अच्छा होता तो जेब से हाथ में आई हुई दुअन्नी ही उसके लिए सड़क पर फेंककर और जरा चिल्लाकर उसे पुकार सकता था; लेकिन मैं जेब में इकन्नी टटोलता हुआ ही इतनी दूर निकल आया। स्टेशन पर पहुँचकर मैंने बस-ड्राइवर सरदारजी को एक इकन्नी दी कि

उसे उस अड्डे पर अपने किसी आदमी को एक ऐसे मजदूर को देने के लिए, जिसकी मजदूरी की इकन्नी आज मारी गई हो, दे दें और उन सरदार जी ने कृपापूर्वक यह कष्ट मेरे लिए स्वीकार किया। प्लेटफार्म पर पहुँचकर एक कार्ड भी मैंने अपने मेजबान-परिवार के नाम डाल दिया कि वह मजदूर माँगने या शिकायत करने आवे तो उसे ४-६ पैसे दे दें। उसे अपने पैसे कहीं से मिल गये होंगे, इसमें मुझे सन्देह है और मैं शायद अब भी उसका कर्जदार हूँ। खैर।

२३-१०-४१

आज अभी यह बनारस ही है। मैं अपनी इस लौटती यात्रा में अक्सर भूला रहता हूँ कि मैं एक बुकसेलर हूँ और इसकी कोई खास अनोखी नहीं, यही साधारण-सी वजह है कि मेरे पास बेचने के लिए कोई खास किताबें अब नहीं बची हैं। इसीलिए डायरी की इस मंजिल में बुकसेलरी और गाहकी की चर्चा नहीं आ रही है। फेरियों की कमी है, इसलिए मेरी नजर में आने समाने और फिर मेरी कलम की राह इन पन्नों पर उतरनेवाले रंग-बिरंग अपरिचित रूपों की भी कमी हो गई है। फिर भी आप (जी हाँ, अब से मैं यह डायरी अक्सर 'आप' को सम्बोधित करके लिखा करूँगा, क्योंकि कलकत्ते में निश्चय हो चुका है कि यह डायरी मेरे कुछ-एक परिचितों की ही नजरों तक नहीं, बहुत-से 'आप लोगों' के सामने पहुँचेगी यद्यपि आपमें से अधिकांश मेरे अपरिचित ही रहेंगे) यह हर्गिज न समझें कि मैं अपने व्यवसाय में कुछ ढीला हो गया हूँ या सौदा करने की मेरी योग्यता में कोई कचाई आ गई है। किताबें लेकर नहीं तो खाली हाथ सही, आप देखिए कि मेरी फेरी चल ही रही है और कुछ न कुछ सौदा या सञ्चय हो ही रहा है।

आज सवेरे सात बजे श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी जी को उनके घर पर जा पकड़ा। कुछ यों ही, कल शाम को ही मैंने इसकी सूचना उनके घर पर दे दी थी। लेकिन वह इतने सवेरे सवेरे—सात ही बजे—इसके लिए तैयार न थे। कल शाम को मैं उनके इसी कमरे में उनकी

तसवीर देख गया था और उसी सहारे, खुली हुई खिड़की के सीखचों से कमरे के भीतर झाँककर मैंने शान्तिप्रिय जी को पहचान लिया। वह अभी सोकर उठे ही थे। कमरे का दरवाजा खुला और मैं साहित्य के सुवासित किन्तु अनसजे और अनसिचे उपवन में जाकर एक फूल-बिछी शिला के-से आसन पर बैठ गया। मुझे ऐसा लगा कि वह उपवन दुष्प्राप्य फूलों-फलों से समृद्ध एक अविरल-सा उपवन है, बड़ा मालदार है, उसका स्वामी फूलों के सुन्दर रूपों-रङ्गों और सुवासों का पारखी और स्रष्टा है; लेकिन एक कुशल माली के अभाव में वह उपवन अनसजा, अनसिचा और अनदेखा-सा पड़ा है। लेकिन मैं यहाँ किसी उपवन की नहीं श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की बात कह रहा हूँ। शान्तिप्रिय जी के शारीरिक आकार-प्रकार के विषय में मुझे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है (मैंने अपने कुछ-एक ग्राहकों के आकार-प्रकार का भी कुछ वर्णन किया है, इसी लिए यह बात लिख रहा हूँ) क्योंकि कहीं-कहीं पत्र-पत्रिकाओं में और उससे कुछ अधिक किन्हीं-किन्हीं साहित्यिक मित्र मण्डलियों में इसकी कभी कभी चर्चा हो चुकी है। कहनेवाले कहते हैं कि एक आदमी को आम तौर पर जितना भारी-भरकम, मोटा ताज़ा और जवान होना चाहिए उतने शान्तिप्रिय जी नहीं हैं, लेकिन ग़ज़ब यह है कि ये लोग उनके दिल को नहीं देखते। उनके जीवन को कोमल करुणा का निराश सङ्गीत समझनेवाले बहुत-से हैं लेकिन उसके अन्तरतम में प्रवाहित रहनेवाली अशेष कला-चेतना की धारा को कोई नहीं देखता। इसमें सारा दोष देखने-कहनेवालों का ही नहीं, कुछ शान्तिप्रिय जी का भी है और वह यह कि यह अपनी शान्तिप्रियता और उसकी सहचरी सुखमयता को स्वयं भी भूले रहते हैं। उनके माथे पर मैंने पढ़ा—जैसे उनकी आँखों से यह चीज कुछ दूर खिसक गई हो—एक सरस कभी न सूखनेवाली कलात्मक चेतना उनके भीतर से उमड़-उमड़कर उन्हें एक मार्ग पर बढ़ा रही है और वह अपने को बहुत चलता हुआ देखकर अक्सर सोचने लगते हैं कि वह बहुत थक जा रहे हैं।

उनकी पूज्या बड़ी बहिन ने उन्हें पाला-पोसा, प्यार किया और फिर उन्हें छोड़कर परलोक सिधारीं। उनका बिछोह ही शायद शान्तिप्रिय जी के जीवन की सबसे अधिक करुण कहानी है। अभी तक उस पितृलोक (Astral plane) में निवास करनेवाले अपने किसी मित्र से मेरी यथेष्ट, चौबीसों घण्टे की जान-पहचान नहीं हो पाई है, नहीं तो मैं इन्हें दिखा देता कि अपनी स्नेहमयी बहिन से बिछोह की इनकी धारणा कितनी भ्रमपूर्ण और उनके वियोग की दर्दभरी भावना इनकी कितनी असुविधाजनक भूल है और मैं इन्हें बता सकता कि इनकी कलात्मक चेतना की अधिकांश प्रेरणाएं इन पृथ्वी-वासियों के धरातल से नहीं, उसी उपरले लोक के हृदयों से मिलती हैं।

परलोकप्रस्तुता वय-प्राप्ता माँ या बहिन का स्नेह अधिक से अधिक कितना आवेशपूर्ण और बन्धनकारी हो सकता है, इसका अनुमान मुझे नहीं है। लेकिन यह अनुमान मुझे है कि नये खूनवाली नवयुवतियों का प्रेम नवयुवकों के लिए बहुत कुछ मीठा और मोहक होता है और मैं सोचता हूँ कि १५ और २५ वर्ष के बीच में मरनेवाली लड़कियाँ—भगवान् न करे उनमें से कोई मरे, लेकिन किया क्या जाय, मरनेवाली मरती ही हैं—अपने मरने से एक दिन पहले मेरे प्रेम में फँस जाया करें और मैं भी उनके प्रेम में बँध जाया करूँ और फिर दूसरे दिन उनके मरने के बाद मैं देखा करूँ कि उनमें से प्रत्येक अलग-अलग या सब मिलकर इकट्ठी कितनी पीड़ा मेरे लिए छोड़ गई हैं! वह बहुत अधिक होगी, इसमें मुझे सन्देह है।

मैं अभी तक शान्तिप्रिय द्विवेदी की ही बात कह रहा हूँ। जरा-सी भी गहरी दृष्टि से देखने पर दीख जाता है कि साहित्य का यह पारखी कलाकार करुणा और कोमलता की मूर्ति है। इनकी स्निग्धता की कदर करने और इनकी सुकुमारता से सहानुभूति रखनेवाले एक साथी का अभाव अवश्य ही इनके जीवन की एक बड़ी कमी है। लेकिन अपनी जिस दुनिया में मानव कविता के कुछ

एक सुन्दर कलाकारों को इन्होंने अपनी परख, सहानुभूति और सराहना से बाँध रक्खा है वहाँ की बस्ती बड़ी मनोरम और वैभवपूर्ण भी है। साधु-पुरुष गांधी और सुकुमार कवि पंत के पुजारी शान्तिप्रिय जी भूल जाते हैं कि उनके लिए एक तीसरा पूजनीय व्यक्ति और भी है और वह स्वयं शान्तिप्रिय जी का व्यक्तित्व है।

बनारस में शान्तिप्रिय जी का प्रत्यक्ष परिचय मेरा एक बहुत बड़ा लाभ रहा। इसके पहले मेरी उनकी जान-पहचान इस तरह थी कि उन्होंने अपनी 'कमला' के कुछ लेखों के ऊपर मेरा नाम छापा था और उन लेखो के प्रशंसक थे।

बनारस में रिक्शा का चलन बहुत काफी है और यद्यपि आदमी के हाथो खींचे जानेवाले रिक्शा की सवारी का साहस, अपने और उस आदमी के नाते का विचार करके, मुझे नहीं होता, फिर भी शान्तिप्रिय जी की पहली भेंट से निपटकर साइकिल द्वारा खींची जानेवाली रिक्शा की सवारी मैंने चौक से स्टेशन तक की। रिक्शा में मेरे साझीदार हुए पण्डित हरिप्रसाद जी, रेलवे विभाग के एक कर्मचारी। उतनी ही देर के साथ मे उनकी वाचालता पर मुझे ईर्ष्या हो उठी। कितनी सुगमता से उन्होंने अपनी दुःख-भरी कहानी मुझे सुनाकर मेरी सहानुभूति पर ज़बर्दस्ती इतना अधिकार कर लिया! मैं चाहते हुए भी ऐसा कितना कम कर पाता हूँ। "राम कहो भैया जै सियाराम" राह-चलते लोगों को उनका उपदेश होता था और इसकी स्वीकृति भी अक्सर राहगीरों से "जै सियाराम, जै सियाराम" के-जैसे उत्तरों में मिल जाती थी। "मैं बनारस शहर मे राम नाम का इन्स्पेक्टर हूँ, बाबूजी" उन्होने मुझे बताया और इसकी सचाई मैंने स्वयं भी देख ली। बिदा होते समय उन्होने कहा—"अच्छा बाबू जी जाइए, आपका मनोरथ पूरा होगा और जब वह पूरा हो जाय तो किसी मन्दिर में प्रसाद चढ़ा देना और मेरी याद करके भगवान् से मेरे लिए दुआ माँग लेना।" मुझे भय है कि अपना मनोरथ पूरा होते समय शायद मुझे उसके पूरे होने

की खबर न रहे या उस समय मैं अपने मनोरथ को ही न पहचान सकूँ (अब भी तो मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि मेरा मनोरथ क्या है) इसलिए मै इसी समय इस डायरी के पन्ने में ही पण्डित हरिप्रसाद जी की याद करके उनके लिए अपने भगवान् से दुआ माँगे लेता हूँ और अपने दुखी जीवन की पीड़ा को राम नाम के प्रवाह में सड़को पर इस तरह बहा सकने की उनकी क्षमता पर उनके प्रति अपनी थोड़ी-सी श्रद्धा भी प्रकट करता हूँ।

मेंटल हास्पिटल के डाक्टर आदरणीय सुन्दरलाल जी के घर में अपने एक स्नेही मिस्र-प्रवासी प्रियजन भाई कृष्णलाल जी के परिवार से मिलकर लौटते हुए राह में स्वर्गीय प्रेमचन्द जी के हंस-परिवार के भी दर्शन किये। 'हंस'-जैसे उच्च कोटि के कला-पारखी पत्र के यशस्वी प्रधान सम्पादक श्रीपतराय जी के दर्शन पाने की मेरी इच्छा स्वाभाविक ही थी। अपनी धारणा के प्रतिकूल उनकी नौ-उम्री को देखकर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ और मैंने सोचा कि इन्हें अभी यशस्वी के बदले 'होनहार' ही होना चाहिए। इनके गौरवर्ण मुखमण्डल पर मैंने साहित्यिक प्रतिभा का एक आभास देखा जिसकी पोषिका उनके नन्हे-से आन्तरिक स्रोत के साथ-साथ उनकी प्राप्त परिस्थिति ही मुझे विशेष रूप में जान पड़ी। "अगस्त के हंस में अमुक लेखक का 'कुत्त की कब्र' शीर्षक लेख निकला था—"मैंने आगे कुछ कहने के लिए उनसे कहा। "निकला होगा, मुझे ध्यान नहीं" उन्होंने उत्तर दिया। "एक बुकसेलर की डायरी के प्रकाशन के सम्बन्ध मे मैं अगले महीने आपको आगरे से लिखूँगा" मैंने अपनी अन्तिम बात कही और उन्होंने "हाँ हाँ, लिखिएगा" कहकर मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया। मेरा ध्यान उनके कथन से अधिक उनकी संलग्नताओं पर था और मैं सोच रहा था कि सम्पादन का भार (वैसे मुझे इसका कुछ ठीक पता नहीं) उन पर अभी अधिक न डालकर अध्ययन और मनन का ही अवकाश उन्हे अधिक दिया जाय तो वह आगे अपने इस आसन को अधिक लोकोपयोगी

बना सकते हैं। एक ग्लास पानी पीकर मैं इस सादर-स्मरणीय कला-मन्दिर से उठ आया।

२६-१०-४१

२४ को बनारस से इलाहाबाद। इलाहाबाद में, कह सकता हूँ, गोपेश का साथ रहा। इन्हे मैंने कलकत्ते से चलते समय वह पत्र लिख दिया था जिसका इरादा मैंने पिछली बार इलाहाबाद से चलकर किया था। इलाहाबाद में अबकी बार मिलते ही मैंने गोपेश को उस पत्र के उत्तरों से भरा हुआ पाया। दुनिया मे फ़लाँ काम नहीं किया जा सकता, यह स्वीकार कर लेना कुछ-कुछ नेपोलियन की तरह गोपेश को असह्य था। खैर, बड़ी सरगर्मी से हम दोनों मिले और इलाहाबाद में गोपेश का ख़ूब साथ रहा। किताबें बिकवाने की भी इन्होंने हाँ की हुई थी, इसलिए उसकी भी एक-आध फेरी निकली। अपने ही काम में, इनका साथ देने मे मै ही कच्चा निकला, इनके साथ ज़्यादा आ-जा नहीं सका। इसलिए एक गाहक तक ही पहुँचकर मेरी फेरी ख़त्म हो गई। इलाहाबाह में मेरे एकमात्र गाहक हुए—

श्री कामताप्रसाद टंडन। शानदार कोठी है। एक अच्छे रईस, और इससे भी पहले, एक अच्छे युवक है। गोपेश ने शायद बताया था कि वह विलायत हो आये है। एक विलायतदर्शी में जो बहु-दर्शिता, परसम्मान और बहुग्राहकता आ जानी चाहिए वह उनमें यथेष्ट मात्रा में है, ऐसा मै उस दस मिनट के साथ में अनुमान कर सका। टंडन जी नौजवान हैं लेकिन इस उम्र मे अपनी जवानी के लिए उन्हे ज़रा कम ही फ़ुर्सत मिली दीख पड़ती है। उनकी जिस जवानी की बात मै कह रहा हूँ वह देश, राष्ट्र और मानवता की एक अच्छी सम्पत्ति बन सकती है, अगर वह इस ओर ज़रा-सा और ध्यान दें और अपने भीतर की महानता मे उनकी रुचि जाग उठे। ऐसे ही युवकों में बहुत कुछ करने की समाई हुआ करती है और इन्हीं मे से

कोई-कोई सुन्दर जवाहर और ख़ासकर जमना-जैसे लाल भी निकल आते हैं।

आज मेरी दावत थी श्री ब्रह्मदेव शर्मा के यहाँ। यह 'भारत' के सह-सम्पादक हैं। उनकी कद्रदानी के बारे में तो मैं ज़्यादा नहीं कह सकता लेकिन मिलनसार वह अच्छे हैं, यह उनके अधिकांश मिलनेवालों की पक्की राय होगी। आज के स्नेह-सम्पर्कों में जागते हुए समाज का प्रिय शब्द 'दावत' शर्मा जी को भी प्रिय है। उनकी इस प्रियता में श्रीमती शर्माजी का ही अधिक हाथ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। शर्माजी का मेरा परिचय आगरे में उनके छोटे भाई डाक्टर ओंकारदेव शर्मा के अनुरक्ति होमियोहाल में हुआ था। डाक्टर शर्मा मेरे लिए, बल्कि एक समूचे कैम्प के लिए, Lila's palm-Absess-cure-fame (लीलाजी के हाथ के फोड़े को अच्छा करने की ख्याति) के डाक्टर हैं। वह अपने मरीज़ों के मन पर यह बात बिठा देते हैं कि होमियोपैथ से होमियोपैथी अधिक श्रद्धा की वस्तु है और उसकी दवाइयाँ फोड़ों पर भी असर करती हैं और मन के आवेशों, चिन्ताओं और अप्रिय बन्धनों पर भी। अनुरक्ति होमियोहाल में कभी-कभी मरीज़ों के 'केस' लेते समय डाक्टर साहब के चेहरे पर किसी बंग-ऋषि की-सी आभा झलक जाती है और यह शायद उनके अगले—पूर्ण युवा तथा प्रौढ़ावस्था के—दिनों का आभास होता है।

बात श्री ब्रह्मदेव शर्मा की चल रही थी, लेकिन बड़े भाई के साथ छोटे भाई को भी यदि कुछ मिल जाय तो वह भी स्वाभाविक ही है, जब कि इसी स्वाभाविकता के अनुसार प्रकाश जी भी आज मेरे साथ दावत में शामिल हुए हैं और गोपेश जी तो हैं ही। हम तीनों मेहमानों में प्रकाश का ही नाम इस जगह नया है। यह मेरे भतीजे हैं। संयोग-वश परसों ही हमीरपुर से आ गये हैं। यंग कामरेड टाइप के हैं और बहुत सम्भव है कि आगे चलकर इन्हें अपने लिए रशन (Russian) के बजाय कोई दूसरा कामरेडशिप पसन्द करना पड़े। मैं

कहता हूँ, ऐसे नौजवान बहुत अच्छे हैं कि नौजवान होते हुए नौजवान तो हैं, इनके दिलों में दिलेरी का ख़ून तो है। जब बड़े हो जायँगे तब दौड़ने के साथ-साथ नाज़ुक रास्तों पर धीरज से पाँव दे-देकर चलना भी सीख लेंगे।

शर्माजी की दावत की महफ़िल बाद में मुशायरे की महफ़िल बन गई। मिस्टर मनन ने मज़दूर दल के नेता के आसन से मोढ़े पर बैठकर एक किसी की मीठी सी उर्दू की ग़ज़ल कही; परमानन्दजी ने एक सुकुमार प्रेम का कसकीला गीत सुनाया, ऐसे स्वर मे जिसमें कि वह अपनी युवावस्था के शैशव में कहते रहे होंगे, और शायद उसी प्रथम-प्रेम-युग का उनका वह गीत भी था। गोपेशजी ने अपनी दो-तीन लिरिक्स सुनाईं और एक-आध ग़ज़ल भी, और इसी इतने मे उन्हे कुछ रूठने और नाज़ दिखाने का भी अवसर (या कारण) मिल गया। श्री वाचस्पति पाठक ने अपनी बुज़ुर्गाना उपस्थिति से सभा को सुशोभित किया। पाठकजी साहित्यिक व्यवसाय के एक बड़े आदमी हैं (साहित्यिक भी हों तो मैं अपनी अनभिज्ञता के लिए उनका क्षमाप्रार्थी हूँ)। मेरा अनुमान है कि उन्हे अपने बाग़ में लगे हुए फूलो को सींचने का शौक़ होगा या कम से कम वह उन्हें सींचते अवश्य होंगे और अक्सर नये फूल लानेवाले पौदो से कहते होंगे "आज ठहरो, तुम्हारे फूल अगर अच्छे हुए तो कल तुमको भी सींच देंगे।"

मतलब यह कि कल की वह दावत और उसके बाद का कवि-सम्मेलन बहुत अच्छा रहा और मैंने मान लिया कि दुनिया में सिर्फ़ खीर ही नहीं, दही-बड़े भी एक खाने की चीज़ है।

इस 'लीडर भवन' का ज़िक्र अधूरा है जब तक कि भारत के प्रधान सम्पादक श्री पं० बलभद्रप्रसाद मिश्र का नाम न ले लिया जाय। मिश्रजी बड़े सहृदय और मृदुभाषी हैं और सम्भवत: ससार के बड़े सम्पादकों की शैली में उन्होंने कुछ मनन किया है कि सम्पादकों

को अपने लेखकों के लिए क्या होना चाहिए। मिश्रजी के सामने, उनके आफिस में अपनी १५ मिनट की बैठक मे, इधर-उधर की बातचीत के बीच मैं सोचता रहा कि एक विद्वान् सम्पादक अपने सुयोग्य और साधारण, दोनों प्रकार के पाठको के लिए जो कुछ हो सकता है इसकी भी आशा अगले कदम पर मिश्रजी से की जानी चाहिए। मिश्रजी के पास से मैं उनके सद्व्यवहार के लिए कृतज्ञता के भाव लेकर ही उठा।

२७-१०-४१

अगर आप किसी यूनिवर्सिटी या बड़े कालेज में किसी अच्छे प्रोफ़ेसर से मिलने जायँ और आपकी हैसियत उस वक्त (मुझे क्षमा करे) एक बुकसेलर की या उसके बराबर ही किसी और की-सी हो तो क्या आपको पता है, आपको कैसा कुछ अनुभव होगा ? मेरा विचार है, आपको कुछ इस प्रकार का अनुभव होगा—

प्रोफेसर साहब का कमरा, यानी उनका निजी कमरा कोई भी चपरासी आपको बतला देगा और उनके वहाँ आने का समय भी उससे आपको मालूम हो जायगा। उस बतलाये हुए समय से आप उनके कमरे के सामनेवाले बराडे में या उसके बाहर टहलकर या खड़े होकर उनका इन्तिजार करना शुरू करें और उनके क्लास को क्लास रूम में जमा होकर इन्तिज़ार करने दें। कहते हैं, स्वप्न में एक सेकिंड के भीतर ही घण्टों और दिनो में पूरी होनेवाली घटनाओ का अनुभव हो जाता है, तो फिर इस तरह की इन्तिजारी के १०-१२ मिनट में अगर आपको आधे दिन के-से इन्तिजार की बेकरारी महसूस होने लगे तो कोई ताज्जुब की बात नहीं। १०-१२ मिनट बाद एक और लड़का, जिसे स्वभावतया किसी प्रारम्भिक यानी प्रीवियस इयर का ही विद्यार्थी होना चाहिए, प्रोफेसर साहब के लिए प्रतीक्षा में आपका साथ देने आ जायगा और तब सम्भवतः सत्रहवें मिनट पर प्रोफेसर साहब आपके लिए अज्ञात और अनपेक्षित किस द्वार से

आकर अपने कमरे में जाते हुए दीख पड़ेंगे और पहले इसके कि आप और आपका वह सहयोगी उस कमरे की ओर बढ़े, दो लड़कियाँ आपके पीछे से सरपट आकर आगे-आगे उस कमरे की ओर बढ़ चलेंगी और आपका वह साथी, जिसका अनुभव और ज्ञान ऐसे मामलों में आपसे अधिक ही होना चाहिए, हारकर, वञ्चित-सा होकर एक ओर लौट जायगा। 'अब मैं प्रोफ़ेसर से मिलने कैसे जा सकता हूँ' वह कहता जायगा और तब आपके लिए भी यही चारा रह जायगा कि बगल के किसी ख़ाली क्लास-रूम की बेंच पर बैठकर कुछ देर और इन्तिज़ार करें। १०-१२ मिनट बाद वे दोनों लड़कियाँ—एक ज़रा इकहरे बदन की, कुछ गम्भीर और कुछ मोहक-सी, मराल-गति से चलती हुई और दूसरी कुछ दोहरे बदन की, कुछ चुस्त और कुछ चञ्चल-सी 'बन्धन' के—बन्धन ही के तो—'चल चल रे नौजवान' वाले ट्यून पर चलती हुई—दोनों बहुत ख़ुश व ख़ुर्रम, प्रोफ़ेसर साहब के कमरे से निकलकर अपनी राह जाती हुईं आपको अपने उस अज्ञात-वास रूम के सामने से दीख पड़ेंगी और तब दूसरे ही क्षण बग़लवाले दूसरे भरे हुए क्लासरूम से प्रोफ़ेसर साहब का गम्भीर लेकिन मध्यम लेक्चर-स्वर सुनाई देने लगेगा और उस घंटे के शेष थोड़े-से मिनट समाप्त होने पर ही आप प्रोफ़ेसर साहब से उनके कमरे में मिल सकेंगे। एक अच्छे प्रोफ़ेसर की, आपको सहमत होना चाहिए, प्रायः यह विशेषता होती है कि क्लास की टोली और अ-क्लास के इक्के-दुक्के मिलने-वाले अकसर उनकी प्रतीक्षा किया करते हैं और जिसकी प्रतीक्षा की जाय वही प्रिय है!

यह तो ख़ैर हुई किसी यूनिवर्सिटी या बड़े कालेज में किसी अच्छे प्रोफ़ेसर से भेंट की बात। लेकिन मेरी आज की विशेष हृदयग्राही भेंट रही इलाहाबाद-यूनिवर्सिटी में डाक्टर रामकुमार वर्मा से। मेरी राय है कि अगर आपको कहीं कोई सहृदय विचारशील व्यक्ति मिले, आप उसे देखें, वह आपको देखे, आप यथानियम अभिवादन करके

उससे कुछ कहें, वह आपके अभिवादन और बात का यथाचलन कुछ उत्तर दे तो यह एक पूरी भेंट या इंटरव्यू है; और अगर आपको मेरी यह राय जँचती है तो डाक्टर रामकुमार वर्मा से मेरी भेंट बहुत लम्बी थी। वैसे, उसका पूर्ण विस्तृत विवरण इन थोड़ी-सी पंक्तियों में है—

"आइए" मुझे कमरे के द्वार पर देखकर उन्होंने बुलाया।

"आपकी एक भेंट है" 'शुभ्रा' की एक प्रति उनके हाथों में देते हुए मैंने कहा।

"धन्यवाद" पुस्तक लेकर उन्होने कहा और पुस्तक के पन्ने खड़े-खड़े ही पलटने शुरू कर दिये।

"आप बैठिये"

"बस मुझे यह पुस्तक भेंट करनी थी। आपको शायद क्लास मे जाना है।"

"जाना तो है, लेकिन बैठिए दो मिनट। ऐसी जल्दी क्या है" ?

हम दोनों कुर्सियों पर बैठ गये।

"शुभ्रा के लेखक का भविष्य शुभ्रा की ही तरह शुभ्र है" उन्होंने कहा।

"आपकी बड़ी कृपा है" मैंने कहा। डाक्टर वर्मा के इन शब्दों में उनकी आन्तरिक सहृदयता मिली हुई थी। मैंने अनुभव किया कि उनकी बात का केवल सुनने वाले के ही हृदय मे स्थान नहीं हो जाता, स्वय उनके हृदय मे भी उसका स्थान बना हुआ होता है। अपने एक प्रियजन के लिए वैसी स्निग्ध प्रशसा की बात सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई (मैं इसके पहले भी कहीं कह चुका हूँ कि मेरे 'शुभ्रा' के सोल एजेंट होने के नाते उसका लेखक मुझे शिष्य के समान प्रिय है) बस इतनी ही है उनकी मेरी भेंट।

डाक्टर रामकुमार वर्मा अपने विद्यार्थियों को बहुत प्रिय हैं, यह यूनिवर्सिटी में बहुत जल्द देखा जा सकता है। उनपर तो मेरी गहरी श्रद्धा

हो जाती, अगर उनकी उम्र जरा ज्यादा होती। मेरी कुछ आदत सी है कि मै केवक वयोवृद्ध जनो को ही श्रद्धा का पात्र समझता हूँ और शेष सब अपने रूप और हृदय की सुन्दरता के अनुसार मुझे अपने आदर और प्रेम के अधिकारी दीख पड़ते हैं। श्रद्धा शायद उस आदर-प्रेम को कहते हैं जो अपने लक्ष्य को खुलकर छू न सके और प्रतिबिम्बित न हो सके। डाक्टर वर्मा ऐसे अछूते नहीं हैं, और यह बात मुझे बहुत अच्छी लगती है। मसूरी में मैंने एक दिन किसी को कहते सुना था कि रामकुमार वर्मा बहुत सुन्दर 'कल्पना' के कवि हैं और आज उनसे मिलने पर मैंने सोचा कि उनकी कल्पना ने कभी अपना सचमुच का निवासस्थान भी उन्हे लेजाकर दिखला दिया हो तो आश्चर्य नहीं। डाक्टर वर्मा युग के एक प्रतिनिधि कवि और कलाकार हैं और अपने युग के एक अङ्ग को उन्होंने सम्भवत: व्यक्तिगत हृदयों मे देखकर पहचाना है और इसी लिए वह अक्सर देखनेवाली आँखों के सामने बहुत कुछ सुन्दर हो उठते हैं।

आज की एक अच्छी-सी चीज और भी है जिसे खो देना मैं अपनी हानि समझ सकता हूँ। डाक्टर रामकुमार वर्मा से मिलने जाते हुए यूनिवर्सिटी में पहले इन्हीं से भेंट हुई। थोड़ी-सी आपसी पूछ-ताछ के बाद इन्होने मेरे हाथ से लेकर 'शुभ्रा' देखी और तब कुछ 'पूजा' की भी, जिसे इन्होंने जोधपुर कालेज में देखा था, चर्चा की। ये दोनो पुस्तकें एक ही लेखक की लिखी हुई थीं। एक लेखक के प्रति इनका अनुराग-सा देखकर मैंने कुछ सोचकर पूछा–"आप भी तो लिखते हैं?" "जीहाँ, कुछ-कुछ लिख ही लेता हूँ" इन्होने उत्तर दिया और इसी उत्तर की मुझे आशा थी। एक दूसरे के पतों का आदान-प्रदान करके और इनके एक-दो मित्रो से चलते-चलाते, ख्वाहमख्वाह इंट्रोड्यूस होकर मैं इनसे बिदा हुआ और इनके स्वर और एक-आध नजर को सामने रखकर मुझे ऐसा अनुमान हुआ कि कल्याणमल लोधा के (जी हाँ, ऊपर से मै इन्हीं का जिक्र करता आ रहा हूँ) हृदय और शरीर के

बीच झूलती हुई एक खासी-सी सुन्दरता है और वह चाहें तो दोनों को उससे सजा सकते हैं।

२९-१०-४१

"चलो जुही।"

इक्का स्टेशन के अहाते से बाहर की तरफ चल दिया।

"कहाँ चलोगे यार, जुही?" अहाते के बाहर इक्का पहुँचने पर मैंने इक्केवाले से कहा।

"हाँ बाबूजी, जुही चल रहा हूँ।"

"जुही चल के क्या करोगे दोस्त, ग्वालटोली चलो।"

"चलिए सरकार, ग्वाल टोली चलिए, रौनक़ तो इसी रास्ते पर है।"

"यही तो, उधर जङ्गल के रास्ते में क्या धरा है?"

घोड़े को चाबुक के इशारे से, सरपट पर छोड़कर उसने कहा, "बाबूजी बाज़-बाज़ सवारी बड़ी अच्छी मिल जाती है।" वह मेरे ऊपर बहुत ख़ुश था।

"और बाज़-बाज़ इक्केवाले भी बड़े मज़ेदार भलेमानस होते हैं।" मैंने जवाब दिया। ऊपर के कोठों से तबला-सारङ्गी के बीच सुरीले गलों की तानें आ रही थीं। "मूलगंज आ गये बाबूजी, मोड़ लूँ दायें को?" मेरे सारथी ने पूछा।

"सीधे चलो भाई, अब तो नींद लग रही है, सामान भी तो हमारे साथ बोझ भर है।" मैं कोई दूसरी तरह की बात कहकर इस रसिक-जन का दिल नहीं तोड़ना चाहता था।

ग्वाल टोली पहुँचकर मैंने उसे वही तय की हुई एक चवन्नी भेंट की जिसे उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया, वरना जुही के बजाय ग्वाल-टोली—इस लक्ष्य परिवर्तन के लिए मुझे कुछ हीला-हुज्जत के साथ कम-से-कम दो आने तो और देने ही पड़ते, भले ही ग्वालटोली जुही के मुकाबले ज्यादा दूर न हो; और अगर सिर्फ एक 'अच्छी सवारी'

बनने से ही इस दुअन्नी के जुरमाने से छूट हो जाय तो कितनी अच्छी बात है। एक दुअन्नी कभी-कभी एक फेरीवाले की एक फेरी की कमाई के बराबर होती है।

यह कानपुर की बात है। २७ को इलाहाबाद इलाहाबाद मे पीछे छूट गया है। २८ को फतेहपुर में विश्राम हो चुका है और यह २९ की रात कानपुर में अपने प्रियजन कोको बाबू की मेहमानी मे सोने के लिए आँखो में समा रही है।

१-११-४१

आज यह इटावा है लेकिन बात अभी यह कानपुर की ही है।

बेचने के लिए नई-नई और काफी किताबें पास नहीं हैं इसलिए यह कानपुर भी मेरे लिए पुराना और उतना ही है जितना पहले का परिचित था। फिर भी फेरी के नवपरिचितो में एक सौम्य मूर्ति अब की बार की भी है। यह हैं श्रीयुत डाक्टर सत्यनारायण। आर्य-समाज के किसी पुस्तकालय के अध्यक्ष या ऐसे ही कुछ हैं और आर्य-समाज के एक औषधालय के डाक्टर भी हैं।

"ले आना अपनी किताबें कल, देख लेंगे," परसों उन्होंने स्वीकार किया था। कल थोड़ी-सी पसन्द की हुई पुस्तकों के सम्बन्ध में उन्होने कहा, "आप इन पर इतना कमीशन नहीं दे सकते, लेकिन हमें तो सभी पुस्तकों पर इतना कमीशन मिल जाता है, हम आपसे पुस्तकालय के लिए पुस्तकें कैसे लें?" डाक्टर साहब की कठिनाई उचित ही थी और मैं भी हर जगह की पुस्तकों पर उतना कमीशन नहीं दे सकता था, जब कि मेरे पास सभी पुस्तकें सीधे उनके प्रकाशको से ली हुई नहीं थीं। सौदा नहीं हो सका। फिर भी उनसे बातचीत के पहले जितनी देर चुपचाप बैठकर अपने मरीजों से डाक्टर साहब के निपटने की प्रतीक्षा मुझे करनी पड़ी, उतनी देर मे मैंने अनुभव किया कि अगर मैं कुछ बीमार होता तो डाक्टर साहब की एक पुड़िया या एक घूँट दवा से जरूर मुझे आराम पहुँचता। डाक्टर

साहब को वयोवृद्ध कहा जा सकता है और वह अपने मरीजों से फ़िक्र और हमदर्दी से पेश आते हैं। आर्यसमाज का, जिसका अपने बचपन के युग के नाते मुझे आजीवन कृतज्ञ रहना है, श्रद्धेय स्थल शायद अब उसके इसी तरह के वृद्धत्व में ही निहित है।

और तब वे दोनों! उन्हीं के कारण मैं कल शाम की किसी गाड़ी को न लेकर आधी रात की गाड़ी से कानपुर से चला हूँ। उनसे मेरी भेंट हुई। मैंने उनसे भेंट की, ऐसा कहने का साहस मुझे नहीं करना चाहिए, क्योंकि मेरे भी अभिभावक हैं—घोर धार्मिक अभिभावक! मैं अभी इतना बड़ा और ज़िम्मेदार नहीं हो गया हूँ कि वे मुझे मुझ पर ही छोड़ देना निरापद समझ लें। मेरे परिवार और परिचित-समाज में जो अभी बच्चे कहे जाते हैं वे ही मुझसे छोटे हैं और शेष सब जवान और बूढ़े मुझसे बड़े हैं और उनकी दृष्टि में वे दोनों, जिनसे कल की रात मेरी भेंट हुई थी, जाति और समाज का पाप, अभिशाप तथा घृणित, तिरस्कृत और बहिष्कृत अङ्ग हैं और सूरज या चाँद के उजाले में उनके पास जाना किसी भले आदमी का काम नहीं है। लेकिन मैं उन्हे समाज का तनिक भी कठोर, असुन्दर या अहृदय अङ्ग नहीं समझ सका था और मुझे उनसे मिलना ही था और अपने एक 'फराख़-तबीयत' मित्र की कृपा से, उनके साथ मैं इनसे मिल सका था।

"बहिन! (मैं उन्हें दूसरी नव-परिचित लड़कियों या महिलाओं की तरह 'बीबीजी' के पैतृक सम्बन्ध-विहीन सम्बोधन से नहीं पुकार पाया) तुम अपने इस जीवन से सुखी हो?"

"हाँ, हम सुखी हैं, सुखी रहना हमारा पेशा है। हम सुखी न रहें, हँसती-खेलती न रहें तो क्या कमायें, क्या खायें?"

जिस कड़वी कृत्रिमता की तरफ़ उसका इशारा था उसे मैंने देखा। मजबूर होकर जो कुछ करना पड़ता है वह कितना ही सुखद क्यों न हो, ज़रूर बोझ बन जाता है।

"तुम्हारे मिलनेवाले तो बहुत हैं, किसी का तुमने गहरा प्यार भी पाया है ?"

"सभी का प्यार हमने पाया है। जिसे हमसे प्यार न करना हो वह हमसे मिलने ही नहीं आ सकता। और किसका कितना प्यार हमने पाया है, यह हमारे इस सुकुमार शरीर के सामर्थ्य पर निर्भर है, इससे हम जिसको जितना मूल्य चुका सकी हैं, उसका उतना ही प्यार भी हमने पाया है।"

खरीदा हुआ प्यार, शरीर से खरीदा हुआ ! जैसे उसने हृदय-जैसी कोई चीज पाई ही न हो। और जिसे वह 'प्यार' न करना हो वह उनसे मिलने ही नहीं आ सकता !

"अपने पड़ोस में रहनेवाली गृहस्थों की बहू-बेटियों से, इसी सड़क पर होकर निकलनेवाली स्कूली लड़कियों से मिलने-जुलने को तुम्हारा जी नहीं चाहता क्या ?"

"बिलकुल नहीं, हम तो उन्हें अभी किसी गिनती में ही नहीं रखतीं। हाँ, अगले जन्म में अगर हमें स्त्री का ही शरीर मिला तो जरूर हम उनसे मिलना अपना सौभाग्य समझेंगी। उनसे गले मिलकर, शायद उनके पैरों से ही लिपटकर, अपने को कृतार्थ मानेंगी, क्योंकि तब वे हमें देखकर और न जाने क्या-क्या सोचकर हमसे आँखें न फेर लिया करेंगी, तब वे हमें भी स्त्री, अपने ही जैसे स्त्रीत्व की स्वामिनी, समझेंगी।"

"तुम तैयार हो तो असम्भव नहीं, तुम्हारा वह दूसरा जन्म अभी, इसी शरीर में, हो जाय।"

"हाँ, हम तैयार हो सकें तो आप लोगों की कृपा से शायद हममें से बहुतों को अच्छे भले पति मिल जायँ और आवश्यकता होने पर हमारे निर्वाह के लिए दूसरे कोई धन्धे भी हमें मिल जायँ। लेकिन इससे आपके उज्ज्वल समाज में हमारा वह दूसरा जन्म भी हो जायगा, 'आप हमें अपनी बहन के साथ रहने देंगे,' आपकी माँ के पैर लगकर हम उनका आशीर्वाद पा सकेंगी, क्या आप ऐसा विश्वास करते हैं ?"

अपनी और अपने समाज की अहृदयता और अशक्तता की यह पैनी—इसे अयथार्थ कैसे कहूँ—आलोचना मुझे चुभ रही थी।

"हाँ बहिन, मैं अगर तुम्हे अपनी बहिन, भावज और माँ के पास ले चलूँ, अपने पड़ोस में बहिन की सहेलियों से तुम्हारी मित्रता करा दूँ—और मान लो यह अभी न हो सके तो इससे भी बड़ी बात, मैं लीला को साथ लेकर किसी दिन तुम्हारे घर आऊँ तो........"

"तो मैं उसी क्षण विश्वास कर लूँगी कि आप आये हैं।" अविश्वास-मिश्रित कृतज्ञता से उसकी आँखें चमक उठीं।

और क्या सचमुच मेरी उसकी ऊपर लिखी जैसी कुछ बातें हुईं ? जी नहीं। मैं तो अपने मित्र के बग़ल में छिपा हुआ-सा चुप-चाप बैठा था। मैं उससे ऐसी बाते करता, इतना बड़ा मेरा दिल नहीं था, इतना साहस मुझमें नहीं था। यह वार्तालाप मेरे मन की उस समय की कल्पना मात्र थी, मुझे अपने साहस की उस संकीर्णता पर खेद है।

उन दोनों (बहिनो ?) में से एक माँ भी बन चुकी थी। उसके बालक में कुछ तेज भी था और वह अपनी माँ को घोड़ा बनाकर सवारी करने पर तुला हुआ था। वह बाला माता उसे पीठ पर सवार करके एक भीतर के कमरे में चिक की ओट कुछ छिपी हुई-सी सहर्ष चार पैरों से कमरे में घूम रही थी। कौन कहता है कि वह माँ नहीं थी ? लेकिन अपने मातृत्व का सुख वह प्रायः चोरी-चोरी से ही ले सकती होगी, क्योंकि उसका पेशा ही ऐसा था।

अपने मित्र के साथ वहाँ से उठते हुए मैंने सोचा कि हमारे अहृदय समाज की ये कोमलांगनाएँ समाज और जाति से इतनी बहिष्कृत और तिरस्कृत न हों तो ये भी उतनी ही अच्छी बहनें, बहुएँ, बेटियाँ, बुआएँ भाभियाँ और सहेलियाँ बन सकती हैं जितनी कि हमारे परिवारों में वांछित होती हैं। इस क्षेत्र में तो केवल उन थोड़ी-सी वारांगनाओं को ही रहने देना चाहिए जो अपनी कला और रूप का जादू सचमुच खुले दिल से समाज के बहुत-से व्यक्तियों पर आजमाना चाहती हैं

और इस क्षेत्र में रहने के लिए आर्थिक परिस्थिति और सामाजिक मानसिकता ने जिन्हें तनिक भी विवश नहीं किया है। और उन सब में क्या ऐसी दस में एक भी निकल सकती है ?

२-११-४१

आज इटावा गुज़र रहा है और आगरा वापस आने को है। इटावा स्टेशन पर डेरा डालकर मैं इस समय गाड़ी का इन्तज़ार कर रहा हूँ। उसको अभी आध घण्टे की देर है। इक्के पर जो मेरा नया साथी बना है वह ज़रा पानी पीने उठ गया है। मैं अपने और उसके सामान की—लेकिन उसके पास तो सिवा एक टोपी के और कोई सामान है नहीं—रखवाली कर रहा हूँ और लिखने के लिए डायरी निकाल ली है। सामान, यानी किताबों का बोझ अब भी मेरे पास बहुत है। कानपुर से आगे बढ़ते हुए मैंने बहुत सी किताबें वहीं छोड़ दी थीं और उन्हीं का बोझ इस समय मेरे सामान का विशेष भाग है। मेरा यह नया साथी, जो चिड़ीमार चौराहे से मेरा दोस्त बना है, मेरे काफ़ी काम आया है। उसी की बदौलत मुझे कुली को सिर्फ दो आने देने पड़ेंगे, वरना कम से कम दो आने और रिश्वत के—बोझ के नहीं, वह तो कुल दो आने भर का ही है—देने पड़ते। अब कुली मेरे सामान को दो मुसाफिरों का सामान समझता है और इसमें कोई ग़ैरकानूनी बात नहीं है। मेरे दोस्त ने अभी-अभी मुझे एक पान भी खिलाया है। इनका मेरा फ़ीरोज़ाबाद तक साथ है, जहाँ यह चूड़ियों के एजेंट हैं।

कल इटावा में एक फेरी लगी थी, आधी संक्षिप्त रेलवे टाइम टेबिल के लिए विज्ञापन तलाश करने के लिए उसका साहित्य लेकर और आधी खाली हाथ। फेरी के पूर्वार्द्ध मे इटावा के प्रसिद्ध जैन-वैद्य-त्रय—सर्वश्री छोटेलाल जैन, रामप्रसाद जैन और चन्द्रसेन जैन—के दरवाजे खटखटाये। सौभाग्य से दर्शन तीनो महानुभावो के हो सके। उत्तरीय भारत के वैद्य-सम्प्रदाय के विज्ञापन-संसार में इस त्रिमूर्ति का ख़ूब

नाम है। मेरा अनुमान है कि दिन-रात के अपने जागने के घंटों में वे अपने रोगियों और औषधियों की चिन्ता में संलग्न दीखते हैं और सोने के घंटों में सूक्ष्म शरीरो से अपने चिकित्सक जीवन के व्यावसायिक (जी हाँ, आर्थिक समझ लीजिए) पार्श्वों का विकास करते हैं यद्यपि, जैसा कि शायद नियम है, जागने पर उन्हें अपने उस सूक्ष्म और महत्तर लोक की सरगर्मियों का पता नहीं रहता। इन तीनों सज्जनो के सम्बन्ध में अलग-अलग भी कुछ कह सकता हूँ। श्री छोटेलाल जी अपनी रसायनशाला का पूजनीय उमर खय्याम जी की सार्य-स्मरणीय साकी-शाला या मधुशाला ('बच्चन' से मेरी दोस्ती होती तो मैं उनकी कागजी मधुशाला का नाम भी यहाँ दे सकता था) के मुकाबले में कम प्रसिद्ध रहजाना हर्गिज गवारा नहीं कर सकते। श्री रामप्रसाद जी अक्सर भू-आसन पर आरूढ़ खरलोपचार करते हुए वन्याश्रम प्रवासी साक्षात् धन्वन्तरि महाराज जैसे लगते हैं और तब उनकी सौम्य मुद्रा विशेष श्रद्धेय हो उठती है। अपने व्यक्तित्व का राजसीय (रजोगुणी कहूँ तो शायद कुछ बेजा हो) अंग उन्होंने सम्भवतः अपने सुपुत्र को दिया हुआ है। श्री चन्द्रसेन जी अपने भवन के विशाल हाल में ऐसे दृष्टिगोचर होते हैं जैसे अगले जन्म में कोई समृद्ध इटालियन पोप होने जा रहे हों (अगर निरन्तर विकास का सिद्धान्त बाधक न होता तो मैं कहता—जैसे पिछले जन्म मे इटालियन पोप रहे हों।)

अगर इन तीनों दैहिक तापहरों के पास जाते समय मेरे शरीर में किसी पीड़ा का ज्वर होता तो शायद मैं इनके सम्बन्ध मे अलग-अलग कुछ और भी लिख सकता। इनसे मिलने के लिए मैं टाइमटेबिल की फर्म का कनवेसर या रिप्रजेंटेटिव भी नहीं केवल विज्ञापन-साहित्य पहुँचा देने वाला दूत या डाकिया-मात्र था। इसलिए उतना ही काम करके और उसी सम्बन्ध में थोड़ी-थोड़ी बातचीत करके 'और उनके व्यवसायोचित वादे लेकर में उनसे विदा हो आया।

और वह आधी फेरी खाली हाथ। उसमें मैंने अपने पुराने गाहकों, श्री सूर्यनारायण अग्रवाल बी० ए० (यह बी० ए० लिखना किसी वजह से जरूरी है, मुझे बताया गया) और आर्य कन्या पाठशाला की हेड मिस्ट्रेस श्रीमती जनककुमारी कक्कड़ (मुझे इनका नाम अब की बार ही मालूम हुआ और उससे यह जानकर कि वह बगाली नहीं हैं, मुझे आश्चर्य भी हुआ) से भेंट हुई और आगे चलकर किताबो की सप्लाई के लिए भी कुछ सिलसिला बना। मेरे ये दोनो गाहक अपने स्वाभाविक आदर-सत्कार से पेश आये। पाठशाला के क्लर्क बाबू का व्यवहार भी एक पर्याप्त परिचित पड़ोसी का-सा रहा। अब की बार पाठशाला के प्रधान महोदय के भी दर्शन हुए किन्तु उन्होंने मेरे पास उसी मेज़ के किनारे क़रीब बीस मिनट तक बैठकर भी मुझसे कोई बात नहीं की, यद्यपि मेरा अनुमान है, उन्होंने इरादा भी किया और मैंने भी चाहा कि वह मुझसे भी कुछ पूछ लें। एक संस्था के प्रधान से हर कोई स्वभावतया यह आशा कर सकता है कि अपरिचित रूप में पहली बार भेंट होने पर—खासकर जब कि बीच में सिर्फ एक सटी हुई मेज़ का ही फ़ासला हो—वह पूछताछ के रूप में ही सही, कुछ-न-कुछ अवश्य कहेगा।

मै इटावे की बात अभी तक कह रहा था, लेकिन इटावा अबतक काफी पीछे छूट गया है और यह फ़ीरोजाबाद का स्टेशन आ गया है। मेरा चूड़ी-एजेन्ट दोस्त यहाँ उतर गया है और एक और सज्जन का उसकी जगह पर मन स्वागत कर लिया है। यह सज्जन युवक हैं, सुडौल हैं, मुसलमान भाई हैं और पुलिस में मुलाज़िम—शायद कांस्टेबिलो के ऊपर—हैं। मुझसे बहुत इख़लाक़ से पेश आ रहे हैं।

'आपके लोटे से मै पानी पी सकता हूँ?' अगले स्टेशन पर उन्होंने पूछा। 'शौक से' मैंने कहा।

उन्होंने मेरा लोटा उठाकर पानी पाँडे से पानी भरवा लिया।

'यों ही पी लूँ ?' उन्होंने लोटे की ओठ की तरफ अपने होंठ का इशारा करके पूछा, गोया वह पूछ रहे थे कि आप हिन्दू हैं या मुसलमान।

'हाँ हाँ यों ही पीजिए' मैंने कहा और वह लोटे को मुँह से लगाकर पानी पी गये।

उसके बाद बातों ही बातों में मैंने उन्हें अपना नाम बतलाया, गोया उन्हें बतला दिया कि मैं हिन्दू हूँ और इसका उन पर एक खास अच्छा असर पड़ा।

अपने पानदान से पान बनाते हुए उन्होंने कहा "पान तो आप खायेंगे ही।" उन्होंने विश्वासपूर्वक कहा, यद्यपि उसके कत्थे-चूने में मुसलमान का पानी पड़ा था। "ज़रूर खाऊँगा" मैंने कहा और मैंने पान उनसे लेकर, यद्यपि कुछ हताश भाव से, खा लिया। उस समय मुझे भूख तेज़ लग रही थी।

टूँडला स्टेशन पर गाड़ी बदली गई। कुली के सारे पैसे उन्होंने ही दिये और बड़ी मुश्किल से मेरे हिस्से के पैसे उन्होंने मुझसे मंजूर किये। आगरे में उन्होने मेरे और अपने लिए ख़ुद ही एक ताँगा किया। ताँगा पहले दक्खिन की तरफ़ उन्हें उनकी पुलिस-चौकी पर उतारने गया। वहाँ उतरकर उन्होने मुझसे हाथ मिलाया, मेरा शुक्रिया अदा किया और ताँगे वाले को मुझे मेरे घर, शहर के उत्तरी कोने में, उतारने की ताकीद करके मुझसे कहा कि इसे छः आने पैसे दे दीजिएगा—जो रकम कि स्टेशन से मेरे घर तक आधे ताँगे का वाजिब किराया होती थी। मैंने उनके इस आदेश का पालन किया। लेकिन बेचारे ताँगेवाले का आधा किराया! ताँगेवाले से ही मुझे मालूम हुआ कि वह तो हाजी जी (या खलीफा जी, जो कुछ भी उनका नाम है, मुझे ताँगेवाले का कहा हुआ वह नाम शायद भूल रहा है) का हक ही है और यह कि वह बहुत रहमदिल हैं और जब बिगड़ते हैं तो बहुत सख्त भी हैं। मैंने भी सोचा कि उनकी यही रहमदिली क्या कम है कि मुझसे ताँगेवाले को छः आने दिलवा दिये वरना वह

तो मुझे भी घर तक मुफ्त भेजवा सकते थे ! आखिर तो वह ब्रिटिश इंडिया के पुलिसवाले ही थे !

ऊपर का एक पैरा मैंने आगरे मे घर पहुँचकर लिखा है। यह एक और लिखकर अपनी इस छोटी-सी—मेरा दिल तो इसे बिल्कुल अधूरी ही कहता है—बुकसेलर की डायरी को समाप्त करता हूँ। मेरे अब तक के जीवन में आ-आकर बिछुड़ जानेवाली अनेक सुन्दर-सुन्दर चीजों की तरह यह बुकसेलरी भी आज मुझसे बिछुड़ रही है। मैं किसी बिछुड़नेवाले से मोह नहीं करता, लेकिन बिछुड़न में एक तरलता, एक नमी, होती है जो दिल पर और आँखो में थोड़ी देर के लिए छा ही जाती है। इस डायरी में जिन-जिनकी कुछ भी चर्चा आई है, जिनका नाम भी आया है उनके सम्बन्ध में एक बात मुझे और कह देनी है और वह यह कि वे सब संसार की सुन्दर और महान् विभूतियाँ है। जिन्हें समाज और संसार जानता है ऐसे शासक और सुधारक, कलाकार और आविष्कारक, सहृदय और रूपवान्—और ऐसी ही दूसरी भी राहों से सुन्दर और महान् समझे जानेवाले व्यक्तिही सुन्दर और महान् नहीं होते, बल्कि मेरी आँखों में आनेवाले ये व्यक्ति भी—और आप की आँखों में समानेवालों के लिए भी मैं यही बात कहता हूँ—सुन्दर और महान् हैं क्योंकि ये सब भी मानवता के पुजारी हैं और मानवता एक हद तक इनकी आश्रित है। समाज के विज्ञापनों में इनमें से अधिकांश के नाम अभी तक नहीं आये तो क्या हुआ ! मुझे इन सबका पक्ष है। इनमें से बहुतों की मैंने मुग्ध होकर प्रशंसा की है और कुछ-एक की—वह भी बिना मुग्ध हुए नहीं—आलोचना-सी की है, लेकिन वह आलोचना हर्गिज़ नहीं, एक मीठा-सा तकाजा है, जो एक बुकसेलर ही अपने गाहक से नही बल्कि हर कोई हर किसी से, मानव-मानव की पारस्परिक आत्मीयता और मधुरता के नाते, कर सकता है। स्नेह और सौन्दर्य की सम्भावनाएँ इन सब में हैं और मैं इनमें से किसी की भी—प्रत्येक की—पूजा कर सकता हूँ !

———